विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक ४ अप्रैल २००१ मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)
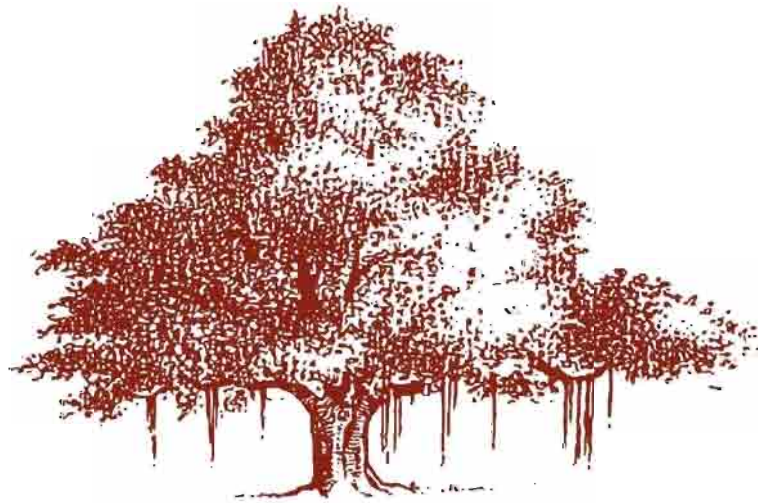
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक ४

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

५ वर्षों के लिए – २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – ७००/-

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यो तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ३९ | अप्रैल २००१ | अंक ४

नीति-शतकम्

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ।।३१।।

अन्वयः – श्वा पिण्डदस्य (पुरतः) लाङ्गूलचालनम्, अधः चरण-अवपातम्, च भूमौ निपत्य वदन-उदरदर्शनं कुरुते; तु गजपुङ्गवः (पिण्डदस्य पुरतः) धीरं विलोकयति च चाटुशतैः भुङ्क्ते ।

भावार्थ – (चाटुकार) कुत्ता अपने अन्नदाता के समक्ष पूंछ हिलाता है, चरणों में पड़ता है और धरती पर लोटकर मुख-पेट दिखाता है; परन्तु (स्वाभिमानी) हाथी अपने अन्नदाता की ओर गम्भीरतापूर्वक देखता है और बड़ी खुशामद के बाद खाता है ।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।।३२।।

अन्वयः – परिवर्तिनि संसारे कः न मृतः वा जायते, स जातः येन जातेन वंशः समुन्नतिं याति ।

भावार्थ – इस परिवर्तनशील संसार में भला कौन-सा व्यक्ति जन्म नहीं लेता और कौन नहीं मरता! परन्तु जन्म उसी का सार्थक है, जिसके जन्म से कुल की उन्नति होती है ।

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ।।३३।।

अन्वयः – मनस्विनः कुसुमस्तबकस्य इव द्वयी वृत्तिः (अस्ति । सः) सर्वलोकस्य मूर्ध्नि (तिष्ठति) वा, वने एव शीर्यते वा ।

भावार्थ – पुष्प-गुच्छ के समान ही स्वाभिमानी व्यक्ति की भी दो ही गतियाँ होती हैं – या तो वह सबके सिरों पर सुशोभित होता है और नहीं तो वन में मुरझाकर नष्ट हो जाना पसन्द करता है ।

– भर्तृहरि

गीति-वन्दना

— १ —

(मालकौंस-त्रिताल)

हे परमपुरुष युग कर्णधार ।
अनुपम सुन्दर तुम नरवपु धर,
हरने आये जन-दु:खभार ।।

घन अन्धकारमय त्रिभुवन में,
आसक्ति-द्वेषमय जीवन में,
खोकर निज प्रज्ञा का प्रदीप,
हम राह ढूँढ़ते गये हार ।।

पथ अनजाना लम्बा अनाप,
अति पीड़ामय हैं त्रिविध ताप,
अब तुम ही पार लगा दो प्रभु,
निज कृपादृष्टि से बस निहार ।।

माया प्रवाह में हम बहते,
असहाय थपेड़ों को सहते,
थक चुके बहुत अब तो हमको,
इस भवसागर से करो पार ।।

— २ —

(रागेश्री-कहरवा)

रामकृष्ण भगवान हमारे ।
दीनबन्धु करुणामय स्वामी, दूर करो भवबन्धन सारे ।।

तोड़ चुका हूँ जग से नाता, तुम ही गुरू और पितु-माता,
दुखदाई संसृति को तजकर, आया नाथ समीप तुम्हारे ।।

श्रेय मार्ग है मुझको भाया, अब न लुभाते कंचन-काया,
तुम बिन और कौन प्रभु मेरे, जीवन का सन्ताप निवारे ।।

मधुमय सुन्दर रूप तुम्हारा, तृण सम लगता यह जग सारा,
बैठो हृदि-आसन 'विदेह' के, त्याग-तपस्या का वपु धारे ।।

— *विदेह*

शक्तिदायी बिचार (४)

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के शक्तिदायी विचार उनकी सम्पूर्ण ग्रन्थावली में बिखरे पड़े है । उन्हीं से संकलित होकर अंग्रेजी मे Thoughts of Power नाम से एक छोटी सी पुस्तिका निकली है । अनेक भाषाओं में अनूदित होकर वह अत्यन्त लोकप्रिय भी हुई है । प्रस्तुत है उसी का एक नया अविकल अनुवाद । – सं.)

* ध्यान रहे, यदि तुम इस धर्म को छोड़कर पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता के पीछे दौड़ोगे, तो तीन ही पीढ़ियों में तुम्हारा अस्तित्व-लोप निश्चित है; क्योंकि इस प्रकार जाति का मेरुदण्ड ही टूट जायगा – जिस नीव के ऊपर यह विशाल राष्ट्रीय भवन खड़ा है, वही धँस जायेगा; फिर तो सर्वनाश ही इसका परिणाम होगा ।

* यह यूरोप, जो आज समस्त भौतिक शक्ति के विकास का केन्द्र बन बैठा है, यदि अपनी स्थिति में परिवर्तन करने की ओर ध्यान नहीं देता, अपना आधार नही बदलता तथा आध्यात्मिकता ही को जीवनाधार नही बना लेता है, तो अगले पचास वर्ष में ही वह बरबाद होकर धूल मे मिल जायेगा और यूरोप को यदि कोई इस विनाश से बचा सकता है, तो वह है उपनिषदो का धर्म ।

* हमारे अभिजात पूर्वजगण सदियों से जन-साधारण को पैरों तले कुचलते रहे । इसके फलस्वरूप वे बेचारे एकदम असहाय हो गये और यहाँ तक कि वे अपने आपको मनुष्य मानना भी भूल गये है । सदियो तक वे धनी-मानियो की आज्ञा सिर-आँखो पर रखकर केवल लकड़ी काटते और पानी भरते रहे है । उनकी यह धारणा बन गयी कि मानो उन्होंने गुलाम के रूप मे ही जन्म लिया है ।

* उपनिषदों के सत्य तुम्हारे सामने हैं । इन्हें अपनाओ, जीवन मे उतारो और देखोगे कि भारत का उद्धार निश्चित है ।

* क्या तुम्हें खेद होता है? क्या तुम्हें हृदय से खेद होता है कि देवताओं तथा ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम्हे इस बात पर हृदय से खेद होता है कि आज करोड़ो लोग भूखों मर रहे है और इसी भाँति शताब्दियों से करोड़ों लोग भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादलों ने सारे भारत को ढँक लिया है? यह सब सोचकर क्या तुम बेचैन हो जाते हो? इस चिन्ता ने क्या तुम्हारी नीद हराम कर दी है? क्या यह चिन्ता तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर धमनियों में बहती हुई तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है? क्या इसने तुम्हे पागल-सा बना दिया है? क्या देश की इस दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में मग्न होकर तुम अपने नाम-यश, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति और यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसार बैठे हो? क्या तुमने ऐसा किया है? यदि 'हाँ' तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है – हाँ, केवल पहली सीढ़ी पर!

* आओ, मनुष्य बनो । कूपमंडूकता छोड़ो और बाहर की ओर दृष्टि डालो । देखो, अन्य देश किस प्रकार आगे बढ़ रहे हैं । क्या तुम्हें मनुष्य से प्रेम है? क्या तुम्हें अपने देश से प्रेम है? यदि हाँ, तो आओ, हम लोग उच्चतर और श्रेष्ठतर वस्तुओं के लिये प्रयत्न करें । पीछे मुड़कर मत देखो, अत्यन्त निकट और प्रिय सम्बन्धी रोते हों, तो भी नहीं । पीछे देखो ही मत – बस, आगे बढ़ते जाओ ।

* अपने भारत-प्रेम, देशभक्ति तथा पूर्वजों के प्रति अगाध श्रद्धा के बावजूद, मेरा विचार है कि अन्य राष्ट्रों से भी हमें बहुत-कुछ सीखना है । ... विदेशों से सम्बन्ध जोड़े बिना हमारा काम नही चल सकता । कभी हमने जो ऐसा सोचा था, वह हमारी मूर्खता मात्र थी और उसी का फल हमें हजार वर्षो की गुलामी के रूप में चुकाना पड़ा है । हमने विदेश जाकर अन्य राष्ट्रों से अपनी तुलना नही की और हमने संसार की गति पर ध्यान रखकर चलना नहीं सीखा, यही है भारतीय मन की अवनति का प्रधान कारण । हमें यथेष्ट सजा मिल चुकी है, आगे हमें ऐसा नहीं करना चाहिये ।

* दक्षिण भारत के कुछ पुराने मन्दिर तथा गुजरात के सोमनाथ जैसे मन्दिर तुम्हें प्रभूत ज्ञान प्रदान करेंगे और राष्ट्र के इतिहास को समझने में ढेरो पुस्तकों से भी अधिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करेंगे । देखो, कैसे ये मन्दिर सैकड़ो आक्रमणों तथा सैकड़ों पुनरुत्थानों के चिह्न धारण किये हुए हैं । ये बारम्बार टूटे और बारम्बार ध्वंसावशेष से उठकर नवजीवन प्राप्त करते हुए अब भी पहले ही की भाँति अटल भाव से खड़े हैं । यही हमारा राष्ट्रीय मन है और यही हमारा राष्ट्रीय जीवन-प्रवाह है ।

* आगामी पचास वर्षो के लिए हमारी यह महान् भारतमाता ही हमारी आराध्य-देवी बन जाय । इस दौरान अपने मस्तिष्क से बाकी समस्त व्यर्थ के देवी-देवताओं को हट जाने दो । हमारा राष्ट्र ही हमारा एकमात्र जाग्रत ईश्वर है; 'सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पाँव हैं, सर्वत्र उसके कान हैं और वह सबको आवृत्त किये हुए है'। समझो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे है । उन व्यर्थ के देवी-देवताओं के पीछे तो हम बेकार दौड़ें और अपने चारों ओर दिखनेवाले विराट् देवता की अवहेलना करें? जब हम इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा कर लेंगे, तभी हम

अन्य देवी-देवताओं की पूजा के योग्य होंगे, अन्यथा नहीं।

* सर्वप्रथम हमें अपने राष्ट्र की आध्यात्मिक तथा लौकिक शिक्षा का भार लेना होगा । क्या तुम इस बात को समझ रहे हो? जो शिक्षा तुम्हें मिल रही है, इसमें कुछ अच्छाइयाँ तो हैं, परन्तु इसमें दोष इतने हैं कि वे इसके भले अंश को दबा देते हैं । सबसे पहली बात तो यह कि यह मनुष्य बनानेवाली शिक्षा नही है; यह मात्र और पूर्णत: निषेधात्मक है । निषेधात्मक या निषेध की बुनियाद पर आधारित शिक्षा मृत्यु से भी बुरी है ।

* विदेशों में जाने के पूर्व मैं भारत से प्रेम करता था, परन्तु अब तो भारत की धूलि तक मेरे लिए पवित्र है, इसकी वायु तक मेरे लिए पावन है, भारत अब मेरे लिए तीर्थ है ।

* यदि तुम अंग्रेजों तथा अमरीकियों के साथ बराबरी करना चाहते हो, तो उनसे शिक्षा ग्रहण करने के साथ-ही-साथ तुम्हें उन्हें कुछ शिक्षा देनी भी होगी । और भविष्य में शताब्दियों तक संसार को शिक्षा देने योग्य सामग्री तुम्हारे पास अब भी विद्यमान है । इसे करना ही होगा ।

* भारत का पतन इसलिए नहीं हुआ कि हमारे पूर्वजों के नियम तथा आचार-व्यवहार खराब थे, बल्कि इसलिए हुआ कि उन नियमों तथा आचार-व्यवहारों को उनकी समुचित परिणति तक नहीं पहुँचाने दिया गया ।

* जब तुम्हारे पास ऐसे लोग होंगे, जो हृदय से एकदम सच्चे हों और देश के लिए अपना सर्वस्व होम कर देने को तैयार हों – जब ऐसे लोग होंगे, तो भारत हर दृष्टि से महान् हो जायेगा । मनुष्यों से मिलकर ही तो राष्ट्र बनता है ।

* मुझे लगता है कि जन-साधारण की उपेक्षा ही हमारा सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप है और वह भी हमारे पतन का एक कारण है । जब तक देश की आम जनता एक बार पुन: सुशिक्षित, सुपोषित तथा सुपालित नहीं होती; तब तक हम चाहे जितनी भी राजनीति कर लें, कोई लाभ नहीं होगा।

* जन-साधारण के धर्म को हानि पहुँचाये बिना ही उनकी उन्नति – इसे अपना आदर्श वाक्य बना लो ।

* केवल शिक्षा! शिक्षा! शिक्षा! यूरोप के अनेक नगरों में घूमते हुए, वहाँ के गरीबों तक के सुख तथा शिक्षा को देखकर मुझे अपने निर्धन देशवासियों की याद आती थी और मेरी आँखें नम हो जाती थीं । यह अन्तर क्यों हुआ? उत्तर मिला 'शिक्षा'। शिक्षा से उनमें आत्मविश्वास जागा और आत्मविश्वास से उनका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग्रत हो गया, जबकि हमारा ब्रह्मभाव क्रमश: निद्रित – संकुचित होता जा रहा है ।

* जीवन में मेरी एकमात्र अभिलाषा एक ऐसे चक्र का प्रवर्तन कर देना है, जो उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वारों तक पहुँचा दे और फिर सभी नर-नारी अपने अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर लें । वे जान लें कि हमारे पूर्वजों तथा अन्य देशों ने भी जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है? विशेषकर वे यह देख लें कि अन्य राष्ट्र इस समय क्या कर रहे हैं और तब वे अपना निर्णय करें ।

* मुझे भविष्य नहीं दिखता और न मैं उसे देखने की परवाह ही करता हूँ । परन्तु एक दृश्य मुझे जीवन के समान सजीव दिखाई दे रहा है और वह यह कि हमारी यह प्राचीन भारतमाता एक बार पुन: जाग गयी है और नवशक्ति के साथ, पहले से भी अधिक महिमान्वित होकर अपने सिंहासन पर विराजमान है । शान्ति एवं आशीष की मंगलवाणी के साथ सम्पूर्ण जगत् में उनके गौरव की घोषणा कर दो ।

विविध

* शिक्षा का अर्थ यह नहीं कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी बहुत-सी बातें ठूँस दी जायँ और वे जीवन भर अनपची रहकर गड़बड़ी मचाती रहें । जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठित कर सकें और विचारों को आत्मसात् कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है । यदि तुम पाँच ही विचारों को पचाकर, तदनुसार अपना जीवन और चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने एक पूरा पुस्तकालय ही कण्ठस्थ कर रखा है ।

* जब तक समाज के शरीर में यह सभ्यता नामक बीमारी बनी रहेगी, तब तक उसके साथ साथ गरीबी भी रहेगी और इसलिए गरीबों को सहायता देने की जरूरत भी रहेगी ।

* पाश्चात्य देश इन 'शायलाकों' (निर्दयी शोषकों) के अत्याचार से जर्जर हो रहे हैं और प्राच्य देश पुरोहितों के अत्याचार से कराह रहे हैं ।

* सारा पाश्चात्य जगत् मानो एक ज्वालामुखी पर स्थित है, जो कल ही फूटकर उसे चूर चूर कर सकता है ।

* एशिया ने सभ्यता की नींव डाली, यूरोप ने पुरुषों की उन्नति की और अमेरिका महिलाओं तथा जनसाधारण का विकास कर रहा है ।

* प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र को महान् बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं —

१. अच्छाई की शक्ति में विश्वास ।
२. ईर्ष्या और सन्देह का अभाव ।
३. भला बनने तथा भला करने का प्रयास कर रहे सभी लोगों की सहायता करना ।

* अपने भाइयों का नेता बनने की चेष्टा न करके, उनकी सेवा करते रहो । नेतृत्व की इस पाशविक प्रवृत्ति ने जीवन-समुद्र में अनेक बड़े बड़े जहाजों को डुबा दिया है ।

* हमारे स्वभाव में संगठन की क्षमता का पूर्ण अभाव है, इसका विकास करना होगा। इसका महान् रहस्य है – ईर्ष्या का अभाव। सदैव अपने भाइयों के विचारों से सहमत रहने को प्रस्तुत रहो और हमेशा मेल बनाये रखने की कोशिश करो। यही संगठन का सारा रहस्य है।

* मैं तुम सभी से यही आशा करता हूँ कि आत्मप्रदर्शन, दलबन्दी तथा ईर्ष्या को सदा के लिए त्याग दो। पृथ्वी की भाँति सब कुछ सहन करने की शक्ति अर्जित करो। यदि यह कर सको, तो दुनिया स्वयं ही तुम्हारे चरणों में लोटेगी।

* महिलाओं की हालत में सुधार के बिना जगत् के हित की कोई सम्भावना नहीं है। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ पाना असम्भव है।

* नारियों को ऐसी स्थिति में होना चाहिए, जहाँ वे अपनी समस्याओं को अपने ढंग से सुलझा सकें। उनके लिए यह काम न कोई कर सकता है और न किसी को करना ही चाहिए। और हमारी भारतीय नारियाँ संसार की किन्हीं भी दूसरी नारियों के समान इसे करने की क्षमता रखती हैं।

* मैं जानता हूँ कि जिस जाति ने सीता को पैदा किया है – भले ही उसने इसकी कल्पना ही क्यों न की हो – उसका नारी के प्रति आदर-भाव पृथ्वी पर अद्वितीय है।

* प्रशंसा मिलने पर तो मूर्ख भी उठ खड़ा होता है और जब हर कार्य में सफलता निश्चित हो, तो कायर भी साहसी का सा मनोभाव दिखा सकता है; परन्तु सच्चा वीर मौन धारण किये चुपचाप काम करता जाता है। एक बुद्ध की प्रसिद्धि के पूर्व न जाने कितने बुद्ध अज्ञात ही चले गये।

* पाश्चात्य राष्ट्रों ने राष्ट्रीय जीवन के जो अद्भुद प्रासाद बनाये हैं, वे चरित्ररूपी सुदृढ़ स्तम्भों पर खड़े हैं और जब तक हम अधिक-से-अधिक संख्या में वैसे चरित्र न गढ़ सकें, तब तक हमारे लिए किसी शक्तिविशेष के विरुद्ध अपना असन्तोष प्रकट करते रहना निरर्थक है।

* काम इस तरह करो, मानो तुममें से प्रत्येक पर सम्पूर्ण कार्य की जिम्मेदारी है। भविष्य की पचास सदियाँ तुम्हारी ओर आशापूर्वक ताक रही हैं; भारत का भविष्य तुम्हीं पर निर्भर है। काम मे लगे रहो।

* जो दूसरो के सहारे की आशा करता है, वह सत्यरूपी ईश्वर की सेवा नहीं कर सकता।

* मैं इस देश में मनुष्यों का एक ऐसा नया संगठन तैयार करूँगा, जो हृदय से ईश्वर में विश्वास करेगा और संसार की बिल्कुल भी परवाह नहीं करेगा।

* प्रत्येक कार्य को क्रमश: तीन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है – उपहास, विरोध तथा स्वीकृति। जो व्यक्ति विचारों में अपने समय से आगे होता है, उसके बारे में गलत-फहमी अवश्यम्भावी है।

* जीवन संघर्षों तथा हताशाओं का एक अविराम प्रवाह है। जीवन का रहस्य भोग नहीं, अपितु अनुभव द्वारा शिक्षा-लाभ है। परन्तु हाय, जिस क्षण हमारी वास्तविक शिक्षा शुरू होती है, उसी क्षण हमारे लिए बुलावा आ जाता है।

* अच्छाई की उपलब्धि का मार्ग इस जगत् में सर्वाधिक ऊबड़-खाबड़ तथा चढ़ावदार है। अत: इतने लोगों की असफलता कोई आश्चर्य की बात नहीं है; आश्चर्य तो इस बात का है कि इतने लोग सफलता प्राप्त करते है। हजारों ठोकरें खाकर ही चरित्र का गठन होता है।

* जीवन और मृत्यु, भला और बुरा, ज्ञान और अज्ञान – इनके सम्मिश्रण को ही विश्वप्रपंच या 'माया' कहते हैं। अनन्त काल तक तुम इस जाल में सुख की खोज कर सकते हो – तुम्हें बहुत-सा सुख और बहुत-सा दुख भी मिलेगा। बुराई को छोड़ केवल अच्छाई को लेना – बच्चों की अनर्गल बात है।

* मनमाफिक काम मिलने पर एक महामूर्ख भी उसे पूरा कर सकता है; परन्तु बुद्धिमान वह है, जो हर कार्य को अपने मन के अनुकूल बना लेता है। कोई भी कार्य छोटा नहीं है।

* केवल वे लोग ही कार्य सम्पादित कर सकते हैं, जो सोचते हैं कि कार्यक्षेत्र में उतरने पर सहायता अवश्य मिलेगी।

* सीखने का पहला पाठ यह है : निश्चय कर लो कि तुम किसी बाहरी वस्तु पर दोष नहीं मढ़ोगे, उसे कोसोगे नहीं; बल्कि इसके स्थान पर तुम स्वयं खड़े होकर सारा दोष स्वयं स्वीकार कर लोगे। तुम देखोगे कि सर्वदा यही बात सत्य है। अपने आपको पकड़ो।

* ध्यान रहे, संघर्ष इस जीवन का सबसे बड़ा लाभ है। उसी से होकर हमें गुजरना पड़ता है। स्वर्ग का कोई मार्ग यदि है, तो वह नरक से ही होकर जाता है। नरक से होते हुए स्वर्ग – यही चिरन्तन पथ है। जीवात्मा जब अपनी परिस्थितियों का सामना करते हुए मृत्यु को प्राप्त होती है और इस प्रकार हजारों बार मृत्यु होने पर भी वह निर्भीकतापूर्वक संघर्ष करती हुई आगे-ही-आगे बढ़ती जाती है, तब वह महा-शक्तिशाली बन जाती है और उस आदर्श पर हँसती है, जिसके लिए वह अब तक संघर्ष कर रही थी, क्योंकि वह जान लेती है कि वह स्वयं उस आदर्श से कितनी अधिक श्रेष्ठ है। 'मैं' अर्थात् मेरी अपनी मेरी आत्मा ही लक्ष्य है, अन्य कुछ भी नहीं; क्योंकि ऐसा क्या है, जिससे मेरी आत्मा की तुलना की जा सके?

(समाप्त)

परहित सम नहिं धर्म

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, अम्बिकापुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

परोपकार मनुष्य का विशेष गुण है, जो अन्य योनियों में नहीं पाया जाता। वैसे कुत्ते एव अन्य पशु भी अपने मालिक के प्रति बड़े वफादार तो होते हैं और मालिक पर कोई विपत्ति आने पर उसकी रक्षा करने के लिए अपने प्राण भी गँवा देते हैं, पर उनका यह कार्य परोपकार की श्रेणी में नहीं आता। एक बार मैं अपने एक मित्र के यहाँ बैठा हुआ उसके छोटे बच्चे के प्रति स्नेह प्रदर्शित कर रहा था। बीच बीच में विनोद में उसे चपत भी लगा देता। मित्र का पोमेरियन कुत्ता वहीं पास में बैठा हुआ था। वह जब मुझे बच्चे को चपत लगाते देखता, तो मेरी ओर देखते हुए गुर्राने और भूँकने लगता। पहले मैं इसका कारण नहीं समझ पाया। पर मित्र ने बताया कि वह बच्चे का मेरी चपत से बचाव करने के लिए गुर्रा रहा है। तो, क्या कुत्ते की इस क्रिया को परोपकार कहेंगे? नहीं, यह परोपकार नहीं है। कुत्ता चोर से मालिक की रक्षा करता है, पर वह भी परोपकार नहीं है। क्यों? कुत्ता तो मालिक का उपकार ही कर रहा है, फिर वह परोपकार कैसे नहीं है? इसलिए कि कुत्ता यह कार्य अपनी सहज प्रवृत्ति से परिचालित होकर करता है, जान-बूझकर नहीं। पशु अपने मालिक के प्रति जो वफादारी प्रदर्शित करते हैं, उसके पीछे उनकी instincts यानी सहज प्रेरणा कार्य करती है, वे बुद्धि के द्वारा सोचकर या जान-बूझकर ऐसा नहीं करते।

परोपकार वह क्रिया है, जो हम जान-बूझकर, सोच-समझकर दूसरे के उपकार के लिए करते हैं। पशु अपने से सम्बन्धित व्यक्ति के प्रति ही वफादारी प्रदर्शित कर सकता है, पर परोपकार की प्रक्रिया उन व्यक्तियों को भी लपेट लेती है, जिन्हें परोपकार करनेवाला नहीं भी जानता है। परोपकार का तात्पर्य है – दूसरे के कष्ट तथा अभाव दूर करने का प्रयास।

परोपकार मानवीय धर्म है। यदि परोपकार की यह वृत्ति मनुष्य में न हो, तो यह मानना पड़ेगा कि वह पशुत्व से अभी विशेष ऊपर नहीं उठ पाया है। परोपकार मानवता का प्रकट लक्षण है। यदि हम किसी के दुःख को देखकर पसीज जाते हों और उसे हल्का करने में सचेष्ट होते हों, तो यह परोपकार की वृत्ति का ही जागरण है।

गोस्वामी तुलसीदास ने परोपकार को सबसे बड़े धर्म की संज्ञा दी है। वे कहते हैं – **परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई** – अर्थात् परोपकार के समान धर्म नहीं और परपीड़ा के समान अधर्म नहीं। सभी धर्मों के सन्तों एवं महापुरुषों ने परोपकार को धर्म का पर्याय माना है और कहा है कि वह व्यक्ति को ईश्वर की ओर ले जाता है।

स्वामी विवेकानन्द एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं कि **परोपकार में अपना ही उपकार है**। यदि परोपकार की क्रिया के पीछे अपने उपकार की दृष्टि रही, तो व्यक्ति कई तरह की प्रतिक्रियाओं को झेलने में अपने को समर्थ बना लेगा। परहित का कार्य करते समय साधारणतः निन्दा और उपेक्षा के बीच से भी गुजरना पड़ता है। इससे मन में प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और व्यक्ति परोपकार के कार्य से हट जाने की सोचता है। उसे लगता है कि परोपकार एक thankless job है, एक अर्थहीन श्रम है। ऐसे समय स्वामी विवेकानन्द का सूत्र हमें परोपकार से विरत होने से बचाता है। यदि हमें यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि परोपकार की क्रिया के द्वारा बस्तुतः मैं अपना ही उपकार कर रहा हूँ, तो यह विश्वास परोपकार में अहकार को नहीं पैठने देगा और प्रतिक्रियाओं से हमारी रक्षा करेगा।

❖ ❖ ❖
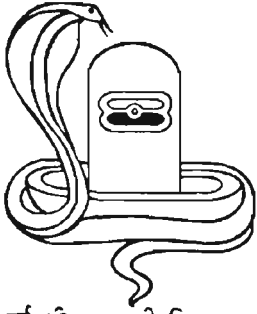
शिवमहिम्नःस्तोत्रम् (४)

स्वामी भूतेशानन्द

(भगवान शिव के समस्त स्तोत्रों मे 'शिवमहिम्न' ही सर्वाधिक लोकप्रिय है । रामकृष्ण मठ तथा मिशन के बारहवे अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज द्वारा की हुई इसकी व्याख्या बँगला मासिक 'उद्बोधन' के फरवरी-मई १९९८ अंकों में प्रकाशित हुई थी । स्वामी चिरन्तनानन्द जी कृत हिन्दी अनुवाद हम 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं । अन्तिम कड़ी – सं.)

विनम्र कवि पुष्पदन्त ऐसा कोई दावा नहीं कर रहे हैं कि इस स्तोत्र के द्वारा वे महादेव का स्वरूप व्यक्त करने में सफल हुए है; बल्कि निष्कपट भाव से स्वीकार कर रहे हैं कि वे इस कार्य मे असमर्थ हैं और इसीलिए अन्तिम चरण में पहुँचकर वे यह स्तोत्र शिव की वाङ्मयी पूजा की सामान्य पुष्पांजलि रूप मे उनके चरण-कमलों में निवेदित कर रहे हैं –

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः ।
इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्-
वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ।।३१।।

– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा आसक्ति – इन पंच-क्लेशो से पीड़ित कहाँ मेरा सीमित क्षमतावाला मन और कहाँ त्रिभुवन के समस्त गुणों से भी अतीत तुम्हारा नित्य ऐश्वर्य! अर्थात् दोनों के बीच दुर्गम खाई है । एक ससीम है तो दूसरा असीम । असीम सर्वदा ही ससीम की पकड़ से बाहर है । अतः परिच्छिन्त्र तथा हजारों वासनाओं से कलुषित मन-बुद्धि द्वारा अति महिमामय तुम्हारी स्तव-रचना, एक शब्द में कहूँ तो, असम्भव है । तथापि मैने जिस स्तुति की रचना की है, वह हठधर्मिता को छोड़ और कुछ भी नहीं है । असम्भव को सम्भव करने की इस वृथा चेष्टा ने ही मेरे मन में भय का संचार किया है । पर हे वरदायक महादेव! **चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्** - तुम्हारे प्रति भक्ति ही मुझे निर्भीक बनाकर यह स्तव तुम्हारे चरणों में उपहार दिला रही है । अर्थात् तुम वाक्य के अतीत हो, फिर भी श्लोक-रचना करके जो मै तुम्हारा वर्णन कर रहा हूँ, इसका कारण यह है कि मेरी भक्ति मुझे वाचाल बना रही है, चुप नहीं रहने दे रही है । इसीलिए यह वाणीरूप पुष्प तुमको उपहार दे रहा हूँ ।

अगले अति प्रसिद्ध श्लोक में पुष्पदन्त सुविचारित उपमा के द्वारा महादेव के गुणो की महिमा बता रहे हैं –

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवर-शाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ।।३२।।

– पर्वत के समान स्याही का स्तूप हो, समुद्र मानो उसकी दावात हो, कल्पवृक्ष की शाखा कलम हो और पृथ्वी कागज बने – इन उपादानो को लेकर स्वयं सरस्वती भी यदि अनन्त काल तक लिखती रहे, तो भी **तव गुणानामीश पारं न याति** – हे परमेश्वर ! वे तुम्हारे गुणों का अन्त नहीं पा सकेंगी ।

काला हिमालय पर्वत यदि स्याही का एक विशाल गोला हो; उसे यदि समुद्ररूपी दावात में घोलकर रखा गया हो; कलम भी यदि स्वर्ग स्थित कल्पवृक्ष की एक शाखा हो – जो दिव्य भाव एवं भाषा की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त माध्यम है और लेखिका यदि स्वयं वाग्देवी सरस्वती हों, ऐसा कोई विषय नहीं है जो उनके बोध से अगोचर हो; तथापि वे लिखकर तुम्हारी महिमा को समाप्त नहीं कर सकेंगी । पुष्पदन्त यहाँ विराट् कल्पना का प्रदर्शन कर रहे हैं । लिखने के ये सारे उपकरण ही असीम हैं, परन्तु महादेव के असीम गुणों के सामने ये सभी तुच्छ हैं । पुष्पदन्त कहते हैं, "तुम अनन्त हो, तुम्हारा वर्णन करके अन्त कौन करेगा?" अतः एक नगण्य गन्धर्व के लिए स्तव-रचना के द्वारा महादेव के स्वरूप का उद्‌घाटन का जो प्रयास है, वह तो एकदम ही तुच्छ है – यह बात वे स्तव के अन्त में फिर बता देते हैं । श्रीरामकृष्ण एक दिन महादेव की गुण-महिमा का स्मरण करते हुए भावविभोर होकर बारम्बार इस श्लोक की आवृत्ति करते रहे ।

यह किन देवता की स्तुति है, इसके रचयिता भी कौन है –

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
र्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य ।
सकलगुणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो
रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार ।।३३।।

– पुष्पदन्त नामक सब गुणों में श्रेष्ठ गन्धर्व ने **एतत् स्तोत्रम् चकार** इस स्तोत्र की रचना की है । यह किसका स्तोत्र है? **असुरसुरमुनीन्द्रैः अर्चितस्य** – दानव, देवता व मुनियों द्वारा पूजित जो **इन्दुमौलेः** अर्थात् भगवान चन्द्रशेखर का **ग्रथित-गुणमहिम्नः** - जिसके गुणों की महिमा शास्त्रों में घोषित की गई है । यह विलक्षण गुणमहिमा किसकी है? **निर्गुणस्येश्वरस्य** गुणातीत की । यहाँ पर दो शब्दों का उपयोग किया गया है – जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, स्रष्टा, पालक तथा संहर्ता परमेश्वर हैं, वे ही निर्गुण ब्रह्मतत्त्व हैं; उनमें सगुण-निर्गुण की बाधा का पूर्णतः लोप हो जाता है । **रुचिरम्** – सुन्दर, सुनने में मधुर । **अलघुवृत्तैः महिम्नस्तोत्रम्** – छन्द का उल्लेख करते हुए कहा जा रहा है कि दीर्घ छन्द में पुष्पदन्त नामक गन्धर्व द्वारा रचित यह स्तोत्र सभी गुणों से श्रेष्ठ है ।

स्तोत्र की महिमा-कीर्तन के बाद अब इसके पाठ में आकृष्ट करने के लिए इसकी फलश्रुति का वर्णन करने की बारी है –

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्
पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान् यः ।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथाऽत्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमांश्च ।।३४।।

– जो व्यक्ति शुद्धचित्त से तथा परम भक्तिपूर्वक सर्वदा शिव के इस पवित्र व उत्कृष्ट स्तोत्र का पाठ करता है, **स भवति शिव-लोके रुद्रतुल्यः** – वह शिवलोक में रुद्र के समान गुणवान या ऐश्वर्यवान होता है तथा इहलोक में भी **प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमांश्च** – प्रचुर धन, आयु, पुत्र तथा यश से युक्त होता है। प्रचुर ऐश्वर्य रहने से आनन्द होता है, पर ऐश्वर्य का भोग करने को लम्बी आयु चाहिए। दीर्घ आयु के बाद भी उत्तराधिकारी न होने से आनन्द नहीं होता, अतः पुत्र चाहिए।

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः ।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ।।३५।।

– शिव से श्रेष्ठ देवता नहीं हैं, 'महिम्नःस्तोत्र' से श्रेष्ठ स्तोत्र नहीं है। 'अघोर' अर्थात् शिव का मंत्र, उससे श्रेष्ठ कोई मंत्र नहीं है। गुरु से श्रेष्ठ कोई तत्त्व नहीं है। इस स्तोत्र की स्तुति करने के लिए यह सब कहा गया है। शिव के दो रूप हैं – घोर या भयंकर और अघोर या कल्याणमय। इस मंगलमय स्वरूप का परिचायक जो मंत्र है, वही शिव का श्रेष्ठ मंत्र है। एकमात्र गुरु ही जीवन में सुप्त आध्यात्मिकता को उद्दीप्त करके साधक का जीवन सार्थक कर सकते हैं। अतः उसके लिए गुरु की अपेक्षा उत्कृष्ट और कुछ भी नहीं है।

दीक्षा दानं तपस्तीर्थं ज्ञानं यागादिकाः क्रियाः ।
महिम्नः स्तवपाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।३६।।

– 'महिम्नःस्तोत्र'पाठ की स्तुति करते हुए पुष्पदन्त कहते हैं कि इससे जो पुण्य होता है; दीक्षामंत्र-ग्रहण, दान, कृच्छ्र-साधन आदि तपस्या, तीर्थगमन, शास्त्रज्ञान, यज्ञादि क्रिया – ये सभी उसके सोलहवें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकते।

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः
शिशुशशधरमौलेर्देवदेवस्य दासः ।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषात्
स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः ।।३७।।

– मस्तक पर बाल-चन्द्र अर्थात् चन्द्रकला धारण किए हुए, जो **देवदेव** – देवताओं के भी देवता – मृत्युंजय शिव हैं; उनके दास पुष्पदन्त नामक प्रसिद्ध गन्धर्वराज शिव के क्रोध से स्वयं की शक्ति अर्थात् गन्धर्वोचित क्षमताओं यथा अन्तर्धान हो जाना, स्वर्ग-मर्त्य में अबाध गति आदि से च्युत हो गये थे और तब इस **दिव्यदिव्यं महिम्नः** – दिव्यता की पराकाष्ठा रूप इस अति हृदयग्राही 'महिम्नःस्तोत्र' की रचना की थी।

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं
पठति यदि मनुष्यः प्रांजलिर्नान्यचेताः
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ।।३८।।

– देवश्रेष्ठ इन्द्र अथवा श्रेष्ठ देवताओं तथा मुनियों द्वारा परम सम्मानित, स्वर्ग एवं मुक्ति का कारण, पुष्पदन्त कृत इस अवश्य-फलदायी महिम्नस्तोत्र का यदि कोई शिव के समक्ष हाथ जोड़कर एकाग्रचित्त से पाठ करता है, तो वह **व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः** – किन्नरों द्वारा प्रशंसित होकर शिवलोक को जाता है।

आसमाप्तमिदं स्तोत्रं पुण्यं गन्धर्वभाषितम् ।
अनौपम्यं मनोहारि सर्वमीश्वरवर्णनम् ।।३९।।

– गन्धर्व के द्वारा उच्चारित यह स्तोत्र आरम्भ से लेकर अन्त तक पवित्र है। **अनौपम्यं** – इसकी उपमा नहीं है, और यह **मनोहारि** – अत्यन्त चित्ताकर्षक, मंगलप्रद तथा भगवान के स्वरूप वर्णन में मुखर है।

श्रीपुष्पदन्तमुखपंकजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ।।४०।।

– श्रीपुष्पदन्त के मुख-कमल से निकला हुआ यह स्तोत्र समस्त पापों को हरता है। यह स्तोत्र महादेव का प्रिय है। इसे कण्ठस्थ करने या पाठ करने अथवा घर में रखने से पशुपति महेश्वर विशेष रूप से प्रसन्न होते हैं।

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छंकरपादयोः
अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः ।।४१।।

– ऐसी इस वाङ्मयी पूजा को भगवान शंकर के पादपद्मों में अर्पित करता हूँ। इस पूजा के द्वारा देवताओं के स्वामी, चिर-मंगलविधायक महादेव मुझ पर प्रसन्न हों।

❖ (समाप्त) ❖

मानस-रोगों से मुक्ति (७/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन तैतालीसवे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

ईश्वर ने हमें जो शरीर दिया है, वह परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन से विभिन्न अवस्थाएँ आती हैं। ईश्वर ने हमें ऐसा शरीर क्यों दिया? यदि वे चाहते तो ऐसा शरीर भी दे सकते थे, जो आजीवन एक जैसा रहता। पर नहीं, पहले बाल्य, फिर कैशोर्य, यौवन, प्रौढ़ावस्था, बुढ़ापा और अन्त में मृत्यु। शरीर के साथ जो इतनी बातों को जोड़ दिया, इसका तात्पर्य क्या है? जो व्यक्ति इसमे छिपे हुए सन्देश को नहीं पहचानता, वह बुरा मानता है या ईश्वर को उलाहना देता है और निरन्तर इसी चेष्टा में लगा रहता है कि हम कैसे इस परिवर्तन को रोक दें, अवस्थाओं के क्रम पर विजय पा लें। परन्तु जो व्यक्ति सोचता है कि नहीं, ईश्वर जैसे चतुर रचनाकार ने इसे जैसा बनाया है, इसके पीछे कुछ उद्देश्य निहित होगा। महाराज दशरथ की विशेषता यही है कि वे शरीर की रचना में भी उद्देश्य देखते हैं। शरीर वृद्ध हो जाय, केश सफेद हो जायँ, तो आदमी को बुरा लगता है। लेकिन ईश्वर ने शरीर ऐसा ही बनाया है, जो युवा से वृद्ध हो जाय और केश काले से सफेद हो जायँ। परन्तु दशरथ जैसे लोग उसमें से ईश्वर का सन्देश पढ़ लेते है, उसका मूल उद्देश्य जान लेते हैं।

रावण अपने शरीर के माध्यम से शंकर जी की पूजा करता है। क्यो करता है? कहते हैं कि रावण ने अपने दसों सिर काटकर शंकर जी को चढ़ा दिये। सुनकर लगता है कि वह शरीर से इतना ऊपर उठ चुका था कि अपने सिरों को ही काटकर चढ़ा दिया। पर उसका उद्देश्य क्या था? जैसे कोई व्यक्ति ब्याज पर किसी अन्य व्यक्ति को लाखों रुपये उधार दे दे और कोई प्रसन्न होकर प्रशंसा करे कि ये कितने उदार हैं, इतने रुपये दे दिये। परन्तु पता लगाने पर ज्ञात होगा कि उसका कितना ब्याज देना होगा और यह भी कि रुपये उदारता के कारण दिये गये हैं या लोभ के कारण।

रावण का साध्य क्या है? साधन हो गये शंकर जी और साध्य? यह बड़ी विचित्र बात है। जब सिर काटकर चढ़ाया, तब तो यही लगा कि शंकर जी साध्य हैं और शरीर साधन। शरीर के द्वारा शंकर जी की पूजा की जा रही है, पर उद्देश्य की दृष्टि से विचार करके देखे, तो आगे चलकर पता चला कि उद्देश्य तो वस्तुत: शंकर जी नहीं हैं, शंकर जी तो उसके लिये साधन हैं। तो फिर उसका साध्य या उद्देश्य क्या है? –

हम काहू के मरहिं न मारे ।। १/१७/४

महाराज, अपने ये सिर मैंने आपको इसलिए चढ़ाये कि वे ऐसे निकल आयें कि कभी खत्म ही न हों। क्या बढ़िया योजना है? एक बार शंकर जी को दस सिर दे दिये, फिर ऐसे सिर मिल जायँ, जिन्हें काटने के बाद फिर नये सिर निकलते रहें। उद्देश्य क्या है? – हम कभी न मरें, देह का कभी नाश न हो। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर ही साध्य हो गया। यही रावण का दशमुखवाला जीवन-दर्शन है। अब यह दशमुख का दर्शन केवल उस व्यक्ति-विशेष का जीवन-दर्शन नहीं है, जो रावण के नाम से त्रेता युग में हुआ था। यदि हम अपने हृदय पर हाथ रखकर देखें, तो शायद यही पाएँगे कि हम भी ईश्वर से वही माँग रहे हैं, जो दशमुख ने माँगा था। यदि अन्ततोगत्वा हम ईश्वर को साधन बना लें और विषयों को, शरीर को साध्य बना लें, तो रावण की वृत्ति में और हमारी वृत्ति में अन्तर ही क्या रहा?

रावण के सन्दर्भ में पुराणों में कथा आती है। उसकी बड़ी लम्बी आयु थी, उसका शरीर कई हजार वर्षों तक बना रहा। बड़ी अनोखी बात है। यदि किसी की आयु लम्बी हो, तो लोग बड़ी प्रशंसा करते हैं कि ये कितने भाग्यशाली हैं, लेकिन रामायण में विभीषण जी ने रावण के सन्दर्भ में एक बड़ा विचित्र वाक्य कह दिया। युद्ध चल रहा था। विभीषण जी ने सूचना दी – महाराज, रावण यज्ञ कर रहा है। प्रभु ने मुस्कुरा कर देखा, बोले – यह तो बड़ी शुभ सूचना है। लड़नेवाला यदि यज्ञ में बैठ गया, तो लगता है कि असत् कर्म से विरत होकर उसमें सद्‌वृत्ति आ गयी है। बोले – नहीं महाराज, यह यज्ञ की सूचना शुभ नहीं, अशुभ है। – क्यों? – पहले यज्ञ का उद्देश्य और उसका फल तो सुन लीजिये। – क्या है उसका फल? बोले – अगर सिद्ध हो गया तो मरेगा नहीं।

नाथ करइ रावण एक जागा।
सिद्ध भयें नहिं मरिहि अभागा ।। ६/८५/२

लेकिन उसके साथ एक शब्द और जोड़ दिया – 'अभागा'। सुनकर बड़ा अटपटा-सा लगता है। नहीं मरेगा, तब तो उसे भाग्यवान कहना चाहिए। साधारणतया यही तो कहा जाता है। न मरना, अमर हो जाना. भाग्य का लक्षण है या दुर्भाग्य का? विभीषण जी कहते हैं अभागा नहीं मरेगा।

अब जिनको शरीर के प्रति मोह है उनके लिये न मरना ही भाग्य की चरम सार्थकता है, परन्तु जीव का सबसे बड़ा भाग्य तो यही है कि ईश्वर ने देह के साथ मृत्यु को जोड़ दिया है। जीव को शरीर से अलग कर देना ही तो मृत्यु है। भगवान लंका में क्यों आये हुए हैं? रावण शरीर को ही 'मैं' मानता है, शरीर के साथ एकाकार हो गया है। रामायण में दो प्रसंगों में दो उल्टी बातें कही गयी है। एक प्रसंग में यह कहा गया कि यह शरीर समुद्र है और दूसरे में कहा गया कि यह शरीर नौका है। अब यह शरीर समुद्र है या नौका? रावण जैसे कुछ लोगों के जीवन में तो यह समुद्र बन गया है और विभीषण जैसे लोगों के जीवन में यह नौका है। इसके लिये गोस्वामी जी ने विनय-पत्रिका में एक सूत्र दिया है। वे कहते हैं कि इस देह को ही 'मैं' मान लेना, यह देहाभिमान ही समुद्र है। रावण जब चाहता है कि मैं अमर हो जाऊँ, तो उसका अभिप्राय क्या है? उसके लिए 'मैं' का अर्थ है शरीर। – "ये जो मेरे दस सिर हैं, बीस भुजाएँ हैं, वही मैं रावण हूँ।" मैं अमर हो जाऊँ का अर्थ है कि मेरे ये सिर, मेरी भुजाएँ कभी न मरें। मैं अर्थात् शरीर – यही रावण का अज्ञान है। भगवान ने रावण को मार डाला। इसे आप सामान्य अर्थ में न लें। रावण को मारने के लिये भगवान को अवतार लेने की क्या आवश्यकता थी? वस्तुत: भगवान राम ने रावण को शरीर से अलग कर दिया और बता दिया कि तुम शरीर नहीं हो। कैसे बताया? आपने रामायण में पढ़ा होगा, श्रीराम ने जब रावण का सिर काट दिया, तो पता चला कि रावण वस्तुत: शरीर नहीं था। कैसे पता चला? गोस्वामी जी ने लिखा कि जब भगवान राम ने रावण का सिर काट दिया, तो देवताओं ने आश्चर्य से देखा – रावण की देह से एक तेज निकलकर प्रभु में समा गया –

तासु तेज समान प्रभु आनन ।। ६/१०३/९

ईश्वर के अंशरूप जीव ने शरीर को ही अपना स्वरूप मानकर भगवान से जो भेद उत्पन्न कर लिया था, वह देह से पृथक् होकर ईश्वर में ही समा गया। जिस शरीर को उसने साध्य मानकर, लक्ष्य मानकर अमर बनाने के लिये पूजा की, तपस्या की, वर माँगा, अपना सिर काटकर भगवान शंकर को चढ़ाया कि हम किसी के मारने से न मरें, हमारी मृत्यु न हो।

विभीषण जी ने रावण को अभागा इसलिए कहा कि रावण ने शरीर को ही साध्य मान लिया था। स्वयं ईश्वर का अंश होते हुए भी, अविनाशी होते हुए भी, उसने नाशवान शरीर को ही अपना स्वरूप मान लिया था। वह उसे ढोता रहा, अमर बनने की चेष्टा करता रहा। भग्यवान तो वह है, जिसे शरीर ढोता है; पर जो शरीर को ही ढो रहा हो, वह तो अभागा ही है। इस देहाभिमान के समुद्र से घिरी हुई लंका का निवासी रावण शरीर को ही साध्य मानकर उसे ढोता रहा। यही प्रयत्न करता रहा कि उसका कभी विनाश न हो। जो शरीर को ही साध्य मानेगा, वह तो उसी की पूजा करेगा। जैसे हम देवता की पूजा करते हैं, उन्हें भोग लगाते हैं, वैसे ही इस शरीर की जो पूजा-अर्चना की जाती है, जो भोग लगाया जाता है, उसका तो कोई अन्त नहीं है। यही रावण का जीवन है।

दूसरी ओर दशरथ जी के जीवन की क्या विशेषता है? ईश्वर ने जो शरीर दिया है, इसका उन्होंने सही अर्थ लगाया। राजसभा में महाराज दशरथ सिंहासन पर बैठे हुए हैं। सभी लोग उनकी प्रशंसा करते हुए एक स्वर से कहने लगे – दशरथ के समान भाग्यशाली कोई नहीं है –

भूरि भाग दसरथ सम नाहीं ।। २/२/४

एक ओर सर्वाधिक भाग्यशाली महाराज दशरथ और दूसरी ओर सबसे बड़ा अभागा रावण। महाराज दशरथ भाग्यशाली होने का क्या अभिप्राय है? उनके जीवन में दोनों का सदुपयोग है। रामायण में आप देखेंगे कि जब सभी लोग एक स्वर में महाराज दशरथ की प्रशंसा करने लगे, तो उन्होंने क्या किया? उन्होंने तत्काल हाथ में दर्पण ले लिया और अपने मुख को देखने लगे। उनका मुकुट कुछ टेढ़ा हो गया था, उसे उन्होंने सीधा करने की चेष्टा की, तो देखा कि कान के पास के कुछ बाल सफेद हो गये हैं। अब कान के पास सफेद बाल तो सभी देखते हैं। किसके कान के पास बाल सफेद नहीं होते? परन्तु कान के पास बाल सफेद होने पर बहुधा यही चिन्ता होती है कि उन्हें छिपाया कैसे जाय? या तो वह काले बालों में छिपा रहे, नहीं तो उन्हें भी काला कर डालें। रहें, पर दिखाई न दें। परन्तु महाराज दशरथ की दृष्टि कहाँ गयी? उन्हें ईश्वर का स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा – ये तो ईश्वर की इच्छा से ही सफेद हो रहे हैं, ये मानो ईश्वर का सन्देश दे रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर ने शरीर के साथ साथ एक जीवन-दर्शन ही दे दिया है, इस परिवर्तन के द्वारा एक उपदेश ही दिया है।

'मानस' में ये जो चार घाट हैं। यदि आप इस पर गहराई से विचार करके देखें, तो इन चार घाटों की व्याख्या आप चार रूपों में ज्ञान-भक्ति-कर्म तथा दैन्य के रूप में कर सकते हैं। ये जो चार मार्ग हैं, इनके सन्दर्भ में व्यक्ति के मन में प्रश्न उठता है कि इनमें से सर्वश्रेष्ठ मार्ग कौन-सा है? ज्ञान, भक्ति, कर्म या दैन्य? इसका उत्तर वही है, जिसे शरीर के साथ चार अवस्थाओं के रूप में जोड़ दिया गया है। एक बालक के जीवन पर दृष्टि डालिये, तत्पश्चात् एक किशोर पर, फिर एक युवक पर और तब एक वृद्ध पर। भगवान ने शरीर की रचना में ही व्यक्ति को साधन के सारे तत्त्व बता दिये हैं। अभिप्राय यह है कि जो लोग असमर्थता और दैन्य का विरोध करते हैं, वे स्वयं अपने जीवन को ही नकारते हैं। वे शरीर के इस सत्य को भूल जाते हैं कि जब बालक माँ के गर्भ में रहता है और उसके बाद नन्हें शिशु के रूप में जन्म लेता है, तब क्या उसमें पुरुषार्थ, कर्म या कर्तव्य की भावना होती है? उसमें तो केवल

असमर्थता की अनुभूति है, केवल रोना ही उसका बल है । क्या वह माँ को बुलाने के लिये पूजा-पाठ, जप-ध्यान करता है? उसकी तो बस एक ही साधना है दैन्य की – रोने की । उसके पास रोने के अतिरिक्त और कोई साधना ही नहीं है । उसका रोना सुनकर माँ दौड़कर आती है, उसे गोद में उठा लेती है और दूध पिलाकर उसकी भूख मिटाती है । यह दैन्य का मूत्र है । ईश्वर ने व्यक्ति के जीवन में यह एक ऐसी वृत्ति दी है कि चाहे वह जितना बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थी हुआ हो, वह भी अपनी बाल्यावस्था पर दृष्टि डाले तो लगता है – नहीं भाई, बाल्यावस्था में तो रोना ही एकमात्र पुरुषार्थ है । उस अवस्था में तो माँ की कृपा छोड़कर और कोई उपाय ही नहीं है ।

पर जीवन का पूर्ण सत्य मात्र इतना ही नहीं है । जीवन का विकास होता है । नयी अवस्था आती है । बालक किशोर होता है । अब किशोरावस्था में दोनों बातें जीवन में जुड़ जाती हैं । उसे शिक्षा भी प्राप्त करनी है और उसके शरीर को भी पुष्ट बनाना है । इसके लिए वह विद्यालय जाता है और दूसरी ओर घर लौटने पर माँ-बाप को भी उसे खिलाने-पिलाने की चिन्ता है । इसमें दोनों का सामंजस्य हो गया ।

गोस्वामी जी ने चार घाटों की जो कल्पना की है, उसमें भी एक क्रम है । चार घाट हैं – ज्ञान, कर्म, भक्ति और दैन्य के प्रतीक । मनुष्य की जो शैशव अवस्था है, वह दैन्य से जुड़ी हुई है । किशोरावस्था भक्ति-साधन की ओर संकेत करती है । मनुष्य की युवावस्था में ईश्वर ने शरीर में कर्म करने की शक्ति दे दी है । अर्थात् ईश्वर चाहते हैं कि अब यह कर्म करो । ईश्वर ने मनुष्य के जीवन में रुदन भी बनाया और हास्य भी, और दोनो का सदुपयोग करना सिखाया । युवक के रूप में वह कर्म करता है । अब यदि कर्म ही जीवन का अन्तिम उद्देश्य होता, तो भगवान व्यक्ति को जवान ही रहने देते, कभी बूढ़ा नहीं होने देते, मरने नहीं देते । पर वे जवान को बूढ़ा बना देते हैं । इसका अर्थ है कि आप चाहे जितने भी कर्मठ क्यों न हों, आपमे कर्म करने की चाहे जितनी भी शक्ति क्यों न हो, पर आपके शरीर में एक अवस्था ऐसी आयेगी, जब आपका शरीर उतने कार्य नहीं कर सकेगा, जितना युवावस्था में कर चुका है । परन्तु हाँ, तब एक काम आप अवश्य कर सकते हैं । उस समय शारीरिक कर्म आप भले ही न कर सकें, लेकिन जीवन भर के अनुभव के द्वारा, अपनी बुद्धि की परिपक्वता का त्याग एवं समर्पण की दिशा में सदुपयोग कर सकते हैं ।

रामायण में जो चार घाटों की जो कल्पना है, उसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने मनुष्य की तो रचना ही ऐसी की है कि उस रचना में चारों बातें मिली-जुली हैं, एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं । अत: यह कहना कि केवल इतना ही ठीक है, किसी का आग्रह मात्र हो सकता है, पूर्ण सत्य नहीं । दशरथ जी ने कान के पास सफेद बाल देखे, उससे प्रेरणा ली और वृद्धावस्था का सदुपयोग किया । शरीर से उन्हें क्या प्रेरणा मिली –

रायँ सुभायँ मुकुरु कर लीन्हा ।
बदनु बिलोकि मुकुटु सम कीन्हा ।।
श्रवन समीप भये सित केसा ।
मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा ।
नृप जुबराजु राम कहुँ देहू ।। २/२/६-८

– महाराज ने सहज भाव से हाथ में दर्पण ले लिया और उसमें अपना मुख देखकर मुकुट को सीधा किया । देखा कि कान के पास के बाल सफेद हो गये हैं, मानों बुढ़ापा उपदेश दे रहा हो – हे राजन्, यह मुकुट अब युवराज को दे दो ।

बड़ी सांकेतिक भाषा है । अभिप्राय यह है कि वृद्धावस्था त्याग और समर्पण की प्रेरणा देने के लिये है । कान के पास सफेद बाल, हमारे संस्कृत साहित्य में इसे यमराज की दूती कहा गया है । शंकराचार्य जी महाराज ने यही कहा है –

कृतान्तस्य दूती जराकर्णमूले
समागत्य लोका शृणुध्वम् शृणुध्वम् ।
परस्त्री परद्रव्य हिंसा त्यजध्वम्
भजध्वम् रमानाथ-पादारविंदम् ।।

अर्थात् कान के पास जो सफेद केश हैं, वे मानो यमराज की दूतियाँ हैं । इन दूतियों के द्वारा वे कानों में यह सन्देश देते हैं कि बस अब हम आने ही वाले हैं, जीवन का जो सदुपयोग करना हो, ठीक ठीक कर लो । परनारी, परधन तथा हिंसा को छोड़कर भगवान रमानाथ के पादपद्मों का चिन्तन करो । अब तक जो भूल-चूक हुई सो हुई, परन्तु अब भी जो थोड़ा-सा समय बचा है, कम-से-कम उसका तो सदुपयोग कर लो ।

परन्तु रावण क्या करता है? जब चलता है तो अपने शरीर – अपनी बीसों भुजाओं को देखते हुए चलता है –

भवन चलेउ निरखत भुज बीसा ।। ६/९/६

अंगद से उसने यही कहा कि राम ने समुद्र पार कर लिया तो क्या, यहाँ बीस बीस भुजाओं के रूप में जो समुद्र लहरा रहा है, उसको पार करेंगे, तब पता चलेगा । रावण तो बस शरीर को ही देखता है, युवावस्था को ही देखता है ।

मन्दोदरी ने जब वृद्धावस्था की याद दिला दी, तो उसे बड़ा बुरा लगा । मन्दोदरी ने एक दिन एकान्त में रावण से कह दिया – यह आप क्या कर रहे हैं? – क्यों? – आप अपने जीवन में जितनी सफलता पा सकते थे, पा लिया, अब आप बूढ़े हो रहे हैं – सुनकर रावण तिलमिला उठा । मन्दोदरी मुझे बूढ़ा कह रही है? यह सुनना रावण के लिये असह्य था कि वह बूढ़ा हो गया है । मन्दोदरी ने याद दिलाया – सन्त कहते हैं कि चौथेपन में राजा को राज्य त्याग, वन में जाकर साधना तपस्या करनी चाहिए, ईश्वर-चिन्तन करना चाहिए । आप जो करना चाहते थे कर चुके, अब यह भी कर डालिये –

चहिअ करन सो सब करि बीते ।
तुम्ह सुर-असुर चराचर जीते ।।
संत कहहिं असि नीति दसानन ।
चौथेंपन जाइहि नृप कानन ।। ६/६/२-३

इस पर रावण भड़क गया और बोला – तू मुझे जानती नहीं, मेरी महिमा को समझती नहीं । क्या मैं रंचमात्र भी वृद्ध हुआ हूँ? रावण को अपने वृद्धत्व की अनुभूति नहीं है । और इसीलिए उसमें भोग की वृत्ति और भोग का आचरण है ।

जिन लोगों ने शरीर को ही अपने जीवन का साध्य बना लिया है, उनके लिये यह शरीर समुद्र बन जाता है । संसार में ऐसे अगणित लोग हैं, जो शरीर की ही पूजा में लगे हुए हैं, परन्तु कुछ लोग शरीर को साधन बना लेते हैं । साधन बना लेने का तात्पर्य यह है कि शरीर के द्वारा ईश्वर ने जो हमें सन्देश दिये हैं, उन संकेतों का हम अपने जीवन में सदुपयोग करें । महाराज दशरथ ने उन संकेतों को समझा । मुकुट टेढ़ा हो जाने पर जब उन्होंने देखा कि उनके कान के पास बाल सफेद हो गये हैं, तो उसके पीछे निहित संकेत को उन्होंने समझा और अपने मुकुट को सीधा किया । अभिप्राय यह कि उन्होंने अपने जीवन को समत्व में स्थापित किया और वृद्धावस्था के आने पर विचारपूर्वक त्याग और समर्पण की दिशा में बढ़े । समत्व की दृष्टि और त्याग-समर्पण की वृत्ति – यही जीवन का सदुपयोग है । दशरथ जी ने उस संकेत का यही अर्थ लिया और यही मनुष्य का दशरथत्व है । जीवन में शरीर का उपयोग रथ के रूप में, साधन के रूप में स्वीकार करना ही दशरथ का जीवन-दर्शन है । ऐसे ही जीवन के लिये भगवान राम ने कहा कि इस संसार में मनुष्य-शरीर नौका के समान है ।

शरीर नौका है तो उसे चलाने के लिये एक चतुर मल्लाह भी चाहिए । सद्गुरु ही वे चतुर मल्लाह हैं । वे ही इस नौका को सही दिशा में ले चलते हैं । नौका भी दो प्रकार की होती है । एक नौका ऐसी होती है, जिसमें पाल लगी होती है और एक बिना पाल की होती है । आपने देखा होगा कि नदियों में बिना पाल की नौका होती है, जिसे डाँड़ से खेकर चलाते हैं, उसे चलाने में बहुत परिश्रम करना पड़ता है । पर जिस नाव में पाल लगी हो और अनुकूल हवा चल रही हो, तो परिश्रम काफी कम करना पड़ता है, वह हवा के सहारे ही चलने लगती है, पर इसमें भी एक सावधानी रखनी पड़ती है, पाल तभी उठाना चाहिए, जब हवा अनुकूल हो । हवा अनुकूल न हो, तो पाल नहीं उठाना चाहिए, अन्यथा नई समस्या खड़ी हो जायेगी । पाल का सदुपयोग तभी होता है, जब हवा अनुकूल चलती है । भगवान श्रीराम अयोध्यावासियों से कहते हैं कि ईश्वर ने जो मनुष्य शरीर आपको दिया है, वही नौका है और सद्गुरु ही मल्लाह हैं । नाव में यदि पाल लगी हो तो – मेरी कृपा ही वायु है –

सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।। ७/४४/७

भगवान राम ने कहा – कृपा की वायु, सद्गुरु द्वारा दिशा-निर्देश, शरीर द्वारा साधन, शरीर का सदुपयोग – इस प्रकार मनुष्य अपने जीवन में लक्ष्य तक पहुँचकर इस मनुष्य जीवन तथा शरीर को सार्थक कर लेते हैं । जिसने यह मनुष्य शरीर पाकर भी यह नहीं किया, वह इस मनुष्य शरीर, जीवन तथा समय का सदुपयोग नहीं कर रहा है और अन्त में वह ईश्वर, काल तथा कर्म को दोष देता है । गोस्वामी जी कहते हैं – वह कृतघ्न तथा मंदबुद्धि है और आत्महन्ता की गति पाता है ।

सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ।।७/४४

गोस्वामी जी तीनों को जोड़ देते हैं । उनके जीवन में गुरु की महती कृपा है । गुरु-वन्दना के आरम्भ में ही वे कहते हैं –

बंदऊँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि ।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर ।। १/५

गुरुदेव के वचन क्या हैं? गोस्वामी जी की यह सांकेतिक भाषा है । मनुष्य के शरीर में पाँच इन्द्रियाँ हैं – नेत्र, नासिका, कर्ण, जिह्वा और त्वचा । मनुष्य इन्हीं से ज्ञान प्राप्त करता है; भौतिक रूप में विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है और भाव-राज्य में वह भक्ति-भाव का ज्ञान प्राप्त करता है । गोस्वामी जी कहते हैं कि भाव-राज्य के जो समग्र पाँच प्रकार के ज्ञान हैं, वे हमें गुरु की कृपा से प्राप्त होते हैं । पहले तो गुरु के वचन से हमारे कान धन्य हुए । इसके बाद दूसरा काम हुआ –

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा ।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।। १/१/१

मैं गुरुदेव की उस चरणधूलि की वन्दना करता हूँ, जिसमें भावना की बड़ी सुन्दर सुगन्ध मिली हुई है । इसका अभिप्राय क्या है? जैसे आप सुगन्धित पुष्प के पास जायँ, तो उसकी सुगन्ध से आनन्द होता है । जिसके पास फूल नहीं होते, फूलों की सुगन्ध नहीं होती, ऐसा व्यक्ति भी यदि सुगन्धित फूलों के पास जाकर बैठ जाय, तो वह मानो उन फूलों की सुगन्ध में लिपट जाता है । इसी प्रकार जिन लोगों में अपनी भावना नहीं है, वे भी जब गुरु के भाव के सन्निकट होते हैं, तो गुरु की भावना की जो सुन्दर सुगन्ध है, वह मानो व्यक्ति के अंतःकरण में व्याप्त हो जाती है । जब गोस्वामी जी ने कहा कि गुरुदेव ने वचन के द्वारा हमारे कान को धन्य किया, तो 'सुबास' कहकर मानो यह संकेत किया कि उन्होंने हमारी नासिका को भी धन्य किया । इसके बाद उन्होंने गुरुदेव के चरणरज को चूर्ण बना लिया, पर इतने से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ । बोले – गुरुदेव की चरणधूलि बहुत बढ़िया जड़ी है । किसके लिये? मन के रोगों और बुराइयों को दूर करने के लिये औषधि चूर्ण बनाकर उसे जिह्वा से जोड़ दिया –

अमिअ मूरिमय चूरन चारू ।
समन सकल भव रुज परिवारू ।। १/१/२

इसके बाद दृष्टि भी धन्य हो गयी । वे कहते हैं –

श्रीगुर पद नख मनि गन जोती ।
सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती ।।
सुकृति संभु तन बिमल बिभूती ।
मंजुल मंगल मोद प्रसूती ।। १/१/५,३

और गुरुदेव की चरणधूलि मानो विभूति है, उससे त्वचा भी धन्य हुई । इसी प्रकार भगवान राम यहाँ संकेत करते हैं –

करनधार सद्गुर दृढ़ नावा ।

और उसके साथ कहते हैं –

सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।। ७/४४/७

इसका अभिप्राय यह है कि गुरु वह साधन बतावेंगे, जो साधक को करना है, पर यदि भगवान की कृपा न हो तो? कई रोगों की प्रकृति आपने देखी होगी, यह भी एक बड़ा विचित्र लक्षण होता है । आयुर्वेद में एक ऐसा ही लक्षण माना गया है, जब किसी व्यक्ति की पथ्य में प्रवृत्ति हो, तो वैद्य को समझ लेना चाहिए कि अब यह स्वस्थ होने ही वाला है, तभी इसकी बुद्धि ऐसी हो गयी है, परन्तु रोगी की प्रवृत्ति यदि कुपथ्य की ओर बढ़ती जाय तो स्थिति निराशाजनक हो जाती है । यही बात मन्दोदरी ने रावण से कहा कि देवता किसी की रक्षा करने के लिये डण्डा लेकर नहीं जाते और न ही डण्डा लेकर किसी को मारने ही जाते हैं; बस उसकी प्रवृत्ति को बदल देते हैं –

काल दंड गहि काहु न मारा ।
हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ।। ६/३७/७

जिसकी बुद्धि भ्रमित हो जाय, धर्म नष्ट हो जाय, तेज नष्ट हो जाय, तो उस व्यक्ति का विनाश अपने आप हो जाता है । यह प्रवृत्ति मनुष्य के जीवन में इतनी जटिल हो जाती है कि इसको छोड़ना मनुष्य के लिये कठिन हो जाता है । इसीलिए गुरु के बताए हुए साधन को कर पाना व्यक्ति के लिये तब तक सम्भव नही होता, जब तक वह इन प्रवृत्तियों को छोड़ नहीं देता । इन प्रवृत्तियों को छोड़ने के लिये व्यक्ति के मन में विषयों से वैराग्य होना चाहिए । यह वैराग्य क्या है? भगवान की कृपा । चतुर मल्लाह पाल उठा देता है । पाल की विशेषता यह है कि उसमें अपनी कोई वस्तु नहीं होती । एक कपड़ा है, बस । कृपा का झोंका आता है, उसे वह ग्रहण कर लेता है । यही दैन्य की वृत्ति है । सब कुछ करते हुए अभाव और दैन्य की वृत्ति । निरन्तर यह अनुभूति होते रहना कि हम केवल अपनी साधना के द्वारा सब कुछ पाने में समर्थ नहीं होंगे । जब तक गुरु और भगवान दोनों की अनुकूलता न मिले, तब तक हम कुछ भी नही कर सकते । गोस्वामी जी इसी तत्त्व को जोड़ते हुए 'विनय-पत्रिका' में भगवान से कहते हैं –

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
साधन धाम बिबुध-दुरलभ तनु
मोहि कृपा कर दीन्हों ।।

कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभु के,
एक एक उपकार ।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं,
दीजै परम उदार ।।१०२।।

याद दिला दिया – आप परम उदार हैं । इसका अभिप्राय यह है कि मै माँग रहा हूँ, आप नहीं मत कीजियेगा । क्योंकि आप उदार ही नही परम उदार हैं । परम उदार का तात्पर्य? जो देने में एक सीमा बना ले कि इतना देंगे, वह तो उदार है । और जो सीमा न बनाये, वह परम उदार हैं । बोले – आप तो असीम हैं और आपकी उदारता यदि सीमा में बँध जायेगी, तो लक्षण में कमी आ जायगी । – तो क्या चाहते हो? गोस्वामी जी बोले – महाराज, समस्या यह है कि मन विषयों का रस लेने का इतना अभ्यस्त हो गया है कि जैसे जल अलग होकर मछली छटपटाने लगती है, वैसी ही मेरी भी दशा है । – तो फिर क्या करें? तब उन्होंने भगवान को एक उपाय बताया । भक्त लोग भी भगवान को उपाय बताते हैं ।

मुझे एक बार ऐसा दृश्य देखने को मिला था । आजमगढ़ में मैं सायंकाल घूमने गया । साथ में कुछ सत्संग-प्रेमी थे । हम एक स्थान पर बैठे थे । कुछ प्रश्नोत्तर होने लगा । सहसा मेरी दृष्टि बगल में उस ओर गयी, जिधर थोड़ी दूर पर एक व्यक्ति हाथ में मछली पकड़ने की बंसी लिये हुए, कटिया लगी हुई डोरी को जल में डालकर बैठा हुआ था । कहाँ तो यहाँ ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के प्रसंग चल रहे हैं । कौन क्या पूछ रहा है, मैं क्या कह रहा हूँ, इस पर उसका जरा भी ध्यान नहीं । उसकी एकाग्रता उस रस्सी पर थी । जरा-सा वह हिले और पता चले कि मछली कटिया में फँस गयी, तो तुरन्त उसे खींचकर निकाल ले । उस दिन मुझे गोस्वामी जी की 'विनय-पत्रिका' के इस पद का सच्चा रस मिला ।

गोस्वामी जी कहते हैं – महाराज, ऐसा कीजिए, आप जरा मछली के शिकारी बन जाइये । आपने बड़े बड़े शिकार तो किये, अब थोड़ा मछली का भी तो शिकार कीजिये । किसी का मन सिंह के समान होता है, तो आप उस पर प्रहार करते हैं, पर हमारा मन तो मछली के समान है । सिंह तो केवल बल से जीता जा सकता है, पर मछली को नहीं ।

मछली की तो यह लाचारी है कि वह जल से अलग नहीं हो सकती । भगवान ने पूछा – इस मछली का शिकार करने के लिए क्या करना होगा? उन्होंने कहा – एक डोरी चाहिए, उसमें एक कटिया चाहिए और फिर कटिया में चारा भी हो, ताकि मछली उस कटिया में फँस जाय । – यह सब हम कहाँ से लायें? बोले – महाराज, बाहर से कहाँ से लाएँगे, बस **कृपा डोरि** – कृपा को डोर बना लीजिये, **बनसी पद अंकुस** – आपके चरणों में जो अंकुश की रेखा है उसे कटिया बना लीजिये और प्रेम का चारा –

कृपा डोरि बनसी पद अंकुस
परम प्रेम-मृदु-चारो ।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख,
कौतुक राम तिहारो ।।

– महाराज, इस प्रकार से आप मेरे मन को पकड़िए । – इससे क्या होगा? – इससे मुझे भी आनन्द होगा और आपको भी । भगवान ने कहा – तुमने तो बड़ा विचित्र उपाय निकाला । गोस्वामी जी बोले – महाराज, शास्त्रों में तो मुक्ति के बहुत-से उपाय बताए गये हैं – ज्ञान के द्वारा, भक्ति के द्वारा, कर्म के द्वारा; और भी अनेक उपाय बताये गये हैं । मुक्ति का अर्थ क्या है? बन्धन में बँधे हुए व्यक्ति का छूट जाना । गोस्वामी जी ने कहा – महाराज, मैं बन्धन में बँधा हुआ हूँ और छूटने का एक उपाय मैं स्वयं बताए दे रहा हूँ । यह उपाय मेरे लिये बहुत बढ़िया रहेगा । – क्या? – महाराज, जिसने बाँधा है वही छोड़ दे तो समस्या का समाधान हो जायेगा –

है श्रुति-बिदित उपाय सकल
सुर, केहि केहि दास निहोरै ।
तुलसिदास यह जीव मोह
रजु, जेहि बाँध्यो सोई छोरै ।।

सचमुच यह तो बड़ी समस्या है । महाराज आपने संसार बना दिया, आपका कौतुक बड़ा अनोखा है । समुद्र भी बना दिया और नाव भी बना दिया । यह संसार यदि सागर है, तो इसका निर्माता भी तो आखिर ईश्वर ही है । इसका अभिप्राय यह है कि प्रभु, जब आपने ही निर्माण किया है, तो केवल अपने पुरुषार्थ के द्वारा तो इसे कोई पार कर नहीं सकता । जब तक गुरु का सहारा न मिले, गुरुप्रदत्त साधन का प्रयोग न हो, जब तक व्यक्ति अपने शरीर को सही दिशा में ले चलाने की चेष्टा न करे, जब तक इन सबका सांमजस्य व्यक्ति के जीवन में न हो, तब तक इस मनुष्य जीवन का, इस शरीर का समग्र रूप से सार्थक सदुपयोग नहीं हो सकेगा । इसलिये भगवान श्रीराम उपदेश देते हुए कहते हैं कि इतना सब सुयोग होने के पर भी इसका सदुपयोग न करनेवाला तो आत्मघाती ही है ।

करन धार सद्गुरु दृढ़ नावा ।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।
जो न तरे भवसागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्महन गति जाई ।। ७/४४

भगवान राम के उपदेश में एक अन्य वाक्य सांकेतिक तथा बड़े महत्व का है । वे कहते हैं – मेरी कृपा ही वायु है ।

सन्मुख मरुत अनुग्रह मोरे ।। ७/४४/७

अब वायु तो अदृश्य है, किसी के वश में नही है – कब धीरे चलेगी, कब तेज चलेगी और कब किस दिशा में चलेगी । जब कोई नाव पर चलता है, तो केवल हवा के भरोसे नहीं चलता । उसे पतवार भी रखना पड़ता है । पतवार चलाना ही पड़ता है । यह बात और है कि यदि नाव में पाल भी लगी हो और हवा भी अनुकूल चलने लगे, तो नाव की गति बढ़ जाती है या अपने आप चलने लगती है, पर अपनी ओर से नाव चलाने का साधन तो रखना ही पड़ता है । नाव चलाने की चेष्टा तो करनी ही पड़ती है ।

इसका अभिप्राय यह है कि भगवान की कृपा तो वायु की भाँति अदृश्य है, वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती और उस पर व्यक्ति का कोई वश भी नहीं होता । वह तो ईश्वर की इच्छा है, पर व्यक्ति को कर्म तो करना ही चाहिए, उसके साथ ईश्वर की कृपा जुड़ जाने पर तो वह धन्य हो ही जायेगा । इस प्रकार से भगवान श्री राघवेन्द्र ने समन्वय का जो संकेत सूत्र दिया है, इस मन के रोगों की चिकित्सा में भी वही क्रम है । भगवान की कृपा, सद्गुरु, सद्गुरु के द्वारा दी गयी दवा और पथ्य इसी क्रम मे हम स्वस्थ हो सकते हैं । ❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ के सान्निध्य में (६८)

श्रीमती खिरोदबाला राय

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था । उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे थे । इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशो का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है । प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद । – सं.)

बागबाजार मे श्रीमाँ के पास जिन महिलाओं का निवास था, माँ उनके चाल-चलन पर विशेष ध्यान रखा करती थीं । एक लोटा या कटोरी भी जोर से रखने पर माँ काफी नाराजगी व्यक्त करती थी । बिना कारण किसी के साथ बातें करने की भी अनुमति नही थी । एक दिन राधारानी ऊपर से बड़ी तेजी से नीचे उतर रही थीं । उनके पाँवों में घुंघरू बँधे थे । उसका शब्द सुनकर माँ ऊपर की ओर देखने लगीं । देखकर भय होने लगा । राधू के आते ही माँ ने कहा, "राधी, तुझे लज्जा नहीं आती? नीचे सब संन्यासी बच्चे हैं और तू पाँवों में घुंघरू बाँधे ऊपर से दौड़ती हुई नीचे उतर रही है । लड़के क्या सोचेंगे, जरा बोल तो? तू अभी अपने पाँवों से घुंघरू उतार डाल । यहाँ पर लड़के या लड़कियाँ जो भी हैं, वे तमाशा करने के लिए यहाँ नही आये, सभी साधन-भजन कर रहे हैं । इनके भजन में बाधा आने से क्या होगा, जानती हैं?" इतना सब कहते ही राधू ने पाँवों से घुंघरू खोल डाले और माँ के पास फेंक दिये । उसे तो कोई भय नहीं था, परन्तु हम सभी भय से विचलित हो उठे ।

एक अन्य दिन राधू स्नान करने के बाद कंघी से अपने केश सँवार रही थी । वह सिर के केशों को एक गमछे से बाँधकर कोई डिजाइन बनाने की कोशिश कर रही थी । इसे देखकर माँ कहने लगी, "यह सब क्या कर रही है? तुम लोग सोचती हो कि वह सब करने से बड़ा सुन्दर दिखाई देगा; पर ऐसी बात नही है, मुझे तो वह भद्दा ही लगता है । मैंने तो अपने जीवन में केश ही नहीं बाँधे । कभी कभी गौरदासी आकर मेरे केश बाँध जाया करती थी, परन्तु वह भी मैं अधिक समय तक रख नहीं पाती थी, खोल डालती । अब तुम्हीं लोगो का अलग प्रकार का देख रही हूँ ।" गोलाप-माँ निकट ही थी । वे बोली, "माँ, तुम मुक्तकेशी हो न, इसलिए केश खुले नही रखोगी, तो क्या करोगी?"

एक दिन एक मुन्सिफ की पत्नी माँ के यहाँ आयी थीं । उस समय महायुद्ध पर चर्चा चल रही थी । उन महिला ने माँ से पूछा, "माँ, सभी लोग कहते है कि यह युद्ध यहाँ तक आ पहुँचेगा । तो फिर हम लोगों की क्या हालत होगी माँ?" माँ ने कहा, "वह सब कुछ भी नहीं है । यहाँ क्या करने आयेगा? जहाँ जैसा होने की आवश्यकता थी, वैसा तो हुआ नही, हमारे इधर क्यों आयेगा?" इसके बाद कई लोगों ने इस विषय पर कई तरह की बातें कहीं । माँ मानो थोड़ी स्तब्ध हो गयी थीं ।

देश में खूब अकाल पड़ा हुआ है । रामकृष्ण मिशन की ओर से दुर्भिक्ष-पीड़ितों की काफी सहायता की जा रही है । एक दिन माँ अकाल के बारे में – कहाँ कैसी दुरवस्था है, मिशन से कितने रुपये इस कार्य के लिए दिये गये हैं, लड़के कितना परिश्रम कर रहे हैं आदि बताने लगीं । सुनकर ऐसा लगा मानो वे जगत् के समस्त दु:खों का अपने प्राणों में अनुभव कर रही हैं ।

मैं बीच बीच में लक्ष्मी दीदी से मिलने दक्षिणेश्वर जाती थी । दीदी अकेले में मुझसे प्राय: ही कहतीं, "माँ से कहना कि मैं यहाँ रहूँगी नहीं । यहाँ मेरी सेवा-यत्न करने के लिए ये जो मेरे भाई की पुत्रियाँ हैं, ये किसी भक्त का आना पसन्द नहीं करतीं । जहाँ भक्त नहीं हैं, वहाँ मैं रह नहीं सकूँगी । माँ से कहना कि मैं वृन्दावन चली जाऊँगी, तुझे भी अपने साथ ले जाऊँगी ।" मैंने सारी बातें माँ को बता दीं । माँ ने कहा, "देख बहू, भक्त देखते ही लक्ष्मी बिल्कुल पागल हो जाती है । इसीलिए वे दोनों बालिकाएँ किसी भक्त के आने पर नाराज होती हैं, उनका दोष नही है, बेटी । लक्ष्मी से कहना – मैं एक दिन जाऊँगी । और तुम्हें उसके साथ कहीं भी नही जाना होगा । वह कहीं रास्ते में भी किसी भक्त को देखे, तो सात दिन वहीं रह जायेगी । उसकी रक्षा करने के लिए सर्वदा किसी को उसके साथ रहना पड़ता है । वह वृन्दावन में रहना चाहती है; पर वहाँ बन्दरो का जैसा उपद्रव है, वह क्या रह सकेगी?" मैंने सारी बातें लक्ष्मी दीदी को बता दीं । साथ ही यह भी कहा, "तुम्हारी जैसी अवस्था है, उसके कारण तुम्हें कहीं अन्यत्र भेजते समय विशेष व्यवस्था करके भेजना होगा । श्री ठाकुर को जो होता था, तुम्हें भी तो शायद वैसा ही होता है!" मेरे इतना कहते ही लक्ष्मी दीदी मुझे डाँटने लगीं । बोलीं, "ठाकुर को जो होता था, वह क्या मनुष्य को हो सकता है? मुझे कोई एक बीमारी हो गयी है, इसीलिए मैं कहीं जा नहीं पाती ।" लक्ष्मी दीदी बिल्कुल बच्चे के समान हो गयी थीं ।

एक दिन एक महिला कम्बल बेचने के लिए आयी हुई थी । नलिन दीदी कम्बल खरीदने के लिए मोलभाव कर रही थीं । कम्बलवाली सवा रुपये माँग रही थी और नलिनी दीदी

एक रुपया कह रही थीं । माँ ने दूर से यह सब सुना और नलिन दीदी को बुलाकर कहा, "तुम इसके साथ किस चीज का इतना मोलभाव कर रही हो?" वह बोली, "मैं कम्बल इतना बता रही हूँ और वह इतना कह रही है ।" इस पर माँ थोड़ा नाराज होकर कहने लगीं, "चार आने पैसे के लिए तुम उसके साथ इतनी देर से किच किच कर रही हो? छि छि, वह दो पैसे पाने के लिए ही तो उसे सिर पर रखकर लोगों के द्वार द्वार घूमती रहती है । और तुमने थोड़े-से पैसों के लिए उसे इतनी देर से रोक रखा है । और फिर तुम्हें कम्बल की जरूरत ही कहाँ है? तुम्हारे पास सब कुछ तो है, तो भी खरीदने गयी हो । (मेरी ओर दिखाकर) बल्कि बहू को देने से अच्छा रहता । वह कम्बल के अतिरिक्त किसी अन्य चीज का उपयोग नहीं करती और उसके पास मात्र एक ही कम्बल है । इतनी ठण्ड में भी वह उसी से काम चला लेती है, किसी से माँगती नहीं । लगता है उसने दो कपड़ों से अधिक तीन कपड़े नहीं पहने । तो भी वह इसी में खूब आनन्द से है । लोगों के अच्छे गुण तुम लोगों के ध्यान में नहीं आते ।" मैं तो यह सुनकर अवाक् रह गयी, कम्बल या कपड़ों की बात तो मैंने एक दिन भी माँ को नहीं बताया था । माँ इतनी सब खबर रखती हैं! हमारी माँ सचमुच की ही माँ हैं, यह बात उन्होंने अनेकों बार समझा दिया है ।

स्थूल शरीर के परे जाकर मेरी माँ अब और भी अधिक करुणा का वितरण कर रही हैं । अब भी जो लोग माँ को पुकारते हैं, अन्तर्यामिनी उनके सामने प्रकट होकर उनकी सारी समस्याएँ मिटा देती हैं । पहले माँ के पास जाने के लिए कितने साधनों की जरूरत पड़ती थी, परन्तु अब मन-प्राण लगाने से एक स्थान पर बैठे ही उन्हें पाया जा सकता है । जो लोग माँ की सन्तान हैं, विपत्ति के समय उनके न पुकारने पर भी माँ मानो अपनी ही आवश्यकता से आकर रक्षा करती हैं – ऐसी भी अनेक घट[illegible] को मिलती हैं ।

[illegible] पूजा के दिन कलकत्ते लौट [illegible]य बहुत खराब था, बुखार [illegible]जा करूँगी, इसी आशा में [illegible]स गयी । कुछ दिनों पूर्व [illegible] था । इस वर्ष मठ में [illegible] में होनेवाली थी । मैंने माँ के पास जाकर उनकी पूजा की । माँ मुझे देखते ही अत्यन्त दुखी होकर बोलीं, "अहा, मेरी बच्ची, कैसी हो गयी हो!" प्रेमानन्द जी के लिए भी वे खेद व्यक्त करने लगीं । फिर बोलीं, "आज रात ही तुम वाराणसी के लिए रवाना हो जाओ । यहाँ के भी कई संन्यासी तथा ब्रह्मचारी वाराणसी जायेंगे । तुम्हारा स्वास्थ्य काफी बिगड़ गया है, वहाँ एक महीने ठहर जाना ।" मैंने कहा, "वहाँ जाकर क्या होगा! मुझे यहीं रहना अच्छा लगता है ।" माँ बोलीं, "कहती क्या हो! वह तो विश्वनाथ का धाम है ।" मैंने कहा, "यह भी अन्नपूर्णा का धाम है ।" माँ हँसते हुए बोलीं, "तो भी कुछ दिन वहाँ रहने से तबीयत ठीक हो जायेगी ।"

मैं अपने गाँव से थोड़ा-सा इमली का अचार लायी थी । वहाँ अनेक लोगों को देखकर मैंने सोचा कि इतनी भीड़ में यह अचार कहाँ चला जायेगा और पता नहीं माँ की सेवा में लगेगा या नहीं । मेरी अन्तर्यामिनी माँ ने गोलाप-माँ को बुलाकर कहा, "इस अचार को यत्नपूर्वक रख दो, बाद में खाया जायेगा; बहू को रास्ते में खाने के लिए कुछ फल दे दो ।" वह दे दिया गया । हम लोगों ने प्रस्थान किया ।

वाराणसी में उस वर्ष भयानक इन्फ्लुएंजा फैला हुआ था । वहाँ के महाराज लोगों ने मुझे देखते ही कहा, "इस समय वाराणसी में जैसी बीमारी फैली हुई है, इसमें आपका स्वस्थ होना तो दूर, आप कहीं इसी रोग से आक्रान्त न हो जायँ!" मैं यह सोचकर चुप रही कि माँ के आदेश पर आयी हूँ, अब जो भी होना है, हुआ करे । उस बार नलिनी दीदी आदि भी गयी थीं । पूजा के बाद वे लोग अन्यत्र चली गयीं, पर मैं वाराणसी में ही रह गयी । मैं राणामहल मुहल्ले में रहा करती थी । कुछ दिनों बाद मुझे वही बीमारी हुई । तब महाराज लोग मेरे लिए चिकित्सक तथा दवा आदि भेजकर मेरी बड़ी सहायता करने लगे । एक दिन मैंने स्वप्न में देखा – माँ आकर मुझसे कह रही हैं, "भय की कोई बात नहीं, मैं हूँ न! मैं तेरी देखभाल करूँगी ।" अगले दिन से ही मेरे स्वास्थ्य में सुधार होने लगा और कुछ दिनों के भीतर ही मैं ठीक हो गयी । एक महीना पूरा होते ही मैं फिर कलकत्ते लौट आयी । माँ मुझे देखकर हँसते हुए बोलीं, "बच गयी बेटी! तुम्हें जो रोग हुआ था, उसे ठीक करने भेजकर और भी बुरा होने जा रहा था ।"

❖(क्रमशः)❖

जीना सीखो (१६)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

अस्तित्व का दर्शन

सभी मनुष्य निरन्तर सुख के लिए संघर्ष करते हैं और इस प्रयास के चलते किसी-न-किसी मुसीबत में फँस जाते हैं। हर मनुष्य स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करता है, पर किसी-न-किसी बन्धन में पड़ ही जाता है। वे नाम-यश के लिए प्रयास करते हैं, परन्तु अपमान उन पर सहसा ही झपट पड़ने के लिए कहीं दुबका बैठा रहता है। मृत्यु से बचाव की चेष्टा चलती रहती है, पर उसका भय जाने का नाम नहीं लेता। जन्म से मृत्यु तक मनुष्य जीवन भर हास्य-क्रन्दन, आशा-निराशा, प्रेम-घृणा, विजय-पराजय की परस्पर विरोधी तरंगों में बहता रहता है। कभी कभी तो वह मकड़ी के जाल में फँसी मक्खी के समान असहाय होता है। चाहे देहाती किसान हो या राजनेता, महल का मालिक हो या मठ-संचालक, झोपड़ी का निवासी हो या गुफा का – कोई भी इन परस्पर-विरोधी शक्तियों से बच नही सकता। जीवन क्या इतना ही है? तो फिर मनुष्य क्यों न अपनी इस अवस्था से समझौता कर ले? वह इसमें सन्तुष्ट क्यों नहीं रहता? वह क्यों इनसे छुटकारा पाने को इतना परिश्रम करता है? क्यों सतत इन बन्धनों से मुक्ति की चेष्टा करता है? अपूर्ण मानव सदैव पूर्ण मानव की कल्पना क्यों करता है? सत्य यह है कि मनुष्य वस्तुत: मर्त्य, बद्ध या अपूर्ण नहीं हैं। अपने अन्तर के दृढ़ अज्ञान के कारण वह स्वयं को मरणशील, बद्ध तथा अपूर्ण समझता है, परन्तु उसकी अन्तरात्मा सतत इसका विरोध करती रहती है। अज्ञान को दूर किये बिना वह सत्य को देख नहीं सकता। अत: जब तक उसे अपने आन्तरिक स्वरूप की अनुभूति नहीं हो जाती, तब तक उसका संघर्ष जारी रहता है।

सूर्य के ताप से समुद्र का जल वाष्प में बदल कर बादलों के रूप में हिमालय की ऊँचाइयों तक पहुँच जाता है। इसका सच्चा स्वरूप समुद्र ही है और वह निरन्तर समुद्र में जाने की चेष्टा करता है, इसीलिए वह इतना चंचल है। समुद्र रूपी अपने वास्तविक स्वरूप में मिलने तक वह भटकता और बहता रहता है। अपने सच्चिदानन्द स्वरूप से बिछुड़े हुए प्रत्येक जीव में वास्तविक सुख की प्राप्ति तथा निरन्तर अपने स्वरूप में स्थित रहने की अदम्य इच्छा होती है। अत: इसी की प्राप्ति का संघर्ष चलता रहता है और मनुष्य सदैव उद्विग्न बना रहता है। इस सुख को वह पत्नी-बच्चों, धन तथा अन्य सांसारिक वस्तुओं में ढूँढ़ता है। सुख की इच्छा से ही मनुष्य विभिन्न प्रकार के कर्म करके पाप-पुण्यों में लिप्त होता है। परन्तु उसके प्रयास ज्ञान द्वारा परिचालित नहीं होते। आंशिक ज्ञान या अज्ञान उसे उलझन, संशय तथा कष्ट की प्राप्ति कराते हैं। पूर्ण ज्ञान होने पर वह समस्त बन्धनों से मुक्त होकर पूर्णता एवं परमानन्द प्राप्त करता है।

हमारे सभी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक सुधार रोटी, कपड़ा तथा मकान देकर भौतिक जीवन के मार्ग की बाधाएँ हटाते हैं। परन्तु अहंकार की रक्षा के लिए एक दूसरा संघर्ष भी चलता रहता है। मनुष्य अभी तक इस संघर्ष से मुक्त होने की कला नहीं सीख सका है। उसका यह 'अहंकार' उसके जन्म से प्राप्त पारिवारिक परिवेश में, दफ्तर में, मित्रों तथा सहकर्मियों में और अन्य प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों में अपनी पहचान एवं श्रेष्ठता चाहता है। इस संघर्ष से उत्पन्न होनेवाली समस्याओं की हम कल्पना कर सकते हैं। अस्तित्ववादी लेखक इस संघर्ष का अत्यन्त प्रभावशाली तथा मर्मस्पर्शी ढंग से वर्णन करते हैं। बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपनी The Conquest of Happiness (सुख पर विजय) नामक पुस्तक में लिखा है, "लोग जीवन के लिए संघर्ष का अर्थ सफलता के लिए संघर्ष से लेते हैं। इस संघर्ष में हर समय उन्हें अपने अगले दिन का नाश्ता न मिलने की नहीं, बल्कि अपने पड़ोसियों से आगे न निकल पाने की चिन्ता सताती रहती है।"

पाश्चात्य दार्शनिकों के मतानुसार इस 'अहंकार' की रक्षा व पालन के लिए मनुष्य द्वारा किये गये प्रयास, उसके अस्तित्व से जुड़ी अपरिहार्य आवश्यकताएँ हैं। अस्तित्ववाद के पिता कीर्कगार्ड बताते हैं कि मनुष्य को प्राप्त होनेवाले सारे अनुभव इस 'अहं' रूपी सँकरे मार्ग से ही आते हैं। वे संक्षेप में मानव-जीवन की विशेषता को चार शब्दों में व्यक्त करते हैं – वैयक्तिकता, विरोधाभास, चुनाव तथा भय। वे अहंकार के संघर्ष की व्याख्या भी करते हैं। जैसे कोई अपने ही कन्धों पर सवार नहीं हो सकता, वैसे ही वह उपरोक्त चार सीमाओं के परे नहीं जा सकता। स्थान, काल, परिवेश तथा परम्परा द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के बीच, विभिन्न संवेदनाओं, रुचियों, क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं, प्रभाव तथा विरोधों की धारा में फँसे व्यक्ति की सीमाएँ उसकी 'वैयक्तिकता' के अन्तर्गत आती हैं। किसी व्यक्ति द्वारा चुने हुए व्यवसाय तथा उसके दृष्टिकोण पर ही उसके जीवन की गुणवत्ता निर्भर है। परन्तु इसमें भी क्या वह स्वाधीन है? उसे बोध होता है कि उसके लिए कुछ भी

असम्भव नहीं है, परन्तु जब वह कुछ ही कदम आगे बढ़ता है, तो उसे अपने चारों ओर अलंघ्य बाधाएँ दिखने लगती हैं। ('मनुष्य थोड़ा और बहुत, सब कुछ और कुछ नहीं करने में सक्षम है। – पास्कल) उसे महसूस होता है कि वह असहाय है। हर कदम पर उसे अपने ज्ञान, सुख तथा अस्तित्व की सीमाओं का बोध होता है। उसे बोध होता है कि उसका जीवन एक निर्मूल वृक्ष, एक निराधार भवन, या एक पतवारहीन नौका के समान है। पल भर में ही मृत्यु सब कुछ को निगल जाती है। तथापि, इन अन्तर्विरोधों के बीच भी कभी कभी उसे एकत्व या सामंजस्य के तत्त्व की झलक मिल जाती है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आर्किमेडीज ने कहा था कि यदि उन्हें खड़े होने के लिए एक स्थिर जगह, एक उत्तोलक दण्ड और एक आधार मिल जाय, तो वे पूरी पृथ्वी को उठा देंगे। परन्तु घूमती हुई पृथ्वी पर खड़े होकर यह कर पाना सम्भव नहीं है। वैसे ही कोई 'अहंकार' की धारा में बहता हुआ, उससे जुड़ी हुई समस्याएँ हल नहीं कर सकता। अहंकार की सीमाओं के पार जाने के लिए, उसके आदि तथा अन्त की जाँच करने के लिए, मनुष्य को चेतना की सीढ़ियों पर चढ़ना होगा। ऊपर की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच जाने पर वहाँ से सब कुछ स्पष्ट रूप से देखने तथा समस्याओं को ठीक ठीक समझने की क्षमता आ जाती है। यदि समस्या पूरी तौर से हल न भी हो, तथापि उसका हानिकारक प्रभावों लगभग समाप्त किया जा सकता है।

हजारों वर्ष पूर्व भारत में हमारे ऋषियों को आध्यात्मिक चेतना के सर्वोच्च शिखर से अस्तित्व से जुड़ी समस्याओं के समाधान मिले थे। इस देश में ऐसे अनेक लोग हुए हैं, जो 'अहंकार' के वास्तविक स्वरूप की पूरी समझ के द्वारा इसके परे जाकर आध्यात्मिक चेतना के स्तर पर पहुँच गये थे। आइंस्टीन ने जिसे अहंकार की सीमाएँ कहा है, वे लोग उनसे मुक्त हो गए थे और समाज का मार्ग-दर्शन करने में सक्षम थे। वैसे यह सत्य है कि धर्म के कुछ अनुयाइयों ने दुर्बलतापूर्ण कार्य किये और इससे धर्म को बदनामी मिली। परन्तु धर्माचार्यों को सत्य का दर्शन हुआ था और चूँकि धर्म के अनेक सच्चे साधकों को सत्य की अनुभूति हुई थी और उनके अनेक शिष्यों ने अपनी धर्मनिष्ठा के अनुसार आचरण किया, इसलिए धर्मवृक्ष ने सर्वोत्कृष्ट गुणवाले फल उत्पन्न किये।

चेतना की उच्च स्तरों तक पहुँचने का प्रयास ही सच्ची आध्यात्मिक साधना है। मंत्रजप, पूजा, ध्यान, निष्काम सेवा ही वे साधन हैं, जो चेतना के उच्च स्तर की ओर ले जाते हैं। "आत्मानुभूति ही धर्म है, इन्द्रियों की सीमा के परे जाने की चेष्टा ही धर्म है" – स्वामी विवेकानन्द के ये शब्द हमें अपने लक्ष्य तथा उसकी प्राप्ति के साधनों के विषय में ठीक ठीक धारणा कराते हैं।

आइये, अब हम सत्य की उस इन्द्रियातीत अवस्था को, जिसे केवल अनुभूति का ही विषय कहा जाता है, अपनी युक्ति की कसौटी पर कसें।

मनुष्य में दिव्य-तत्त्व

पिछली कहानी में जैसे व्याघ्र-शावक स्वयं को भेड़ का बच्चा समझता था या राजकुमार अपने को धोबीपुत्र समझता था, मनुष्य भी अपने सच्चिदानन्द स्वरूप से अनभिज्ञ रहकर, अपनी क्षमताओं के बारे में सीमित दृष्टिकोण में बद्ध होकर निर्बल तथा अपंगों का सा व्यवहार करते हैं। व्याघ्र-शावक अपने को मेमना समझते समय भी व्याघ्र-शिशु ही था। अज्ञान के कारण स्वयं को धोबीपुत्र समझनेवाला राजपुत्र वस्तुतः राजपुत्र ही था। अपनी समस्त मानव-सुलभ सीमाओं तथा दोषों के बावजूद मनुष्य वास्तव में दिव्य है। उपरोक्त कहानियों के आधार पर निम्नलिखित समीकरण बनाये जा सकते हैं –

भेड़ का बच्चा = व्याघ्र-शिशु
धोबी का पुत्र = राजकुमार।

गहन अज्ञान के कारण ही व्याघ्र-शिशु एक मेमना और राजकुमार एक धोबीपुत्र बन गया था। अब चूँकि व्याघ्र-शावक भेड़ों के बीच रहा, उन्हीं के समान घास खाता, मिमियाता और अपने को मेमना ही समझता रहा; अतः कल्पना करो कि हमने व्याघ्र-शावक को मेमना मान लिया। परन्तु क्या वह अपने मूल रूप में वह सर्वदा व्याघ्र-शावक ही नहीं रहा? जब उसे बोध हुआ कि वह एक व्याघ्र-शावक है, तो उसमें क्या परिवर्तन आया? उसका अज्ञान तथा उससे उत्पन्न व्यवहार ही तो दूर हुए? जब तक आइंस्टीन ने पदार्थ के अणु में छिपी शक्ति का सिद्धान्त नहीं बताया था, तब तक हम सभी पदार्थों का उनके बाह्य गुणों के अनुसार ही मूल्यांकन करते रहे; परन्तु जब हमें पता चला कि जो दिखता है, केवल उतना ही सत्य नहीं है, तो पदार्थ के बारे में हमने अपना दृष्टिकोण बदल लिया। वैसे हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पदार्थ को ऊर्जा में बदलने के लिए विशेष विधियों की आवश्यकता होती है।

मानवता के लिए आइंस्टीन द्वारा आविष्कृत सत्य से भी अधिक उपयोगी एक सत्य है और वह एक सूत्र/समीकरण है, जो शाश्वत सत्य की ओर इंगित करता है। यह एक ऐसा सूत्र है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने जीवन में बौद्धिक जिज्ञासा, प्रयोग तथा अनुभूति के द्वारा सत्यापन किया जा सकता है। यह सूत्र जीवन के तात्पर्य तथा उद्देश्य का रहस्य खोल सकता है। यह एक ऐसा गूढ़ तत्त्व है, जिससे कोई भी व्यक्ति भौतिक स्तर से आध्यात्मिक अनुभूति के स्तर तक उठने के लिए बल, साहस तथा आत्मविश्वास की उपलब्धि कर सकता है। शताब्दियों पूर्व विश्व के महान् धर्मों के साधकों तथा ऋषियों ने इस तत्त्व की खोज की। आधुनिक जगत् के लिए यह एक सिद्धान्त मात्र नहीं है। व्यावहारिक अनुभूतियों

की दृष्टि से यह एक ऐसा पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त बन सकता है, जो पूरी मानव-जाति को उन्नत बना सकता है। आधुनिक युग मे इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से प्रचारित करने का श्रेय स्वामी विवेकानन्द को जाता है। सत्य की अनुभूति से उत्पन्न उनका आत्मविश्वास और इसके प्रचार हेतु उनके उत्साह ने इसे सर्व-जनसुलभ बना दिया। इसके पहले इसे कुछ थोड़े-से संन्यासी तथा उनसे भी कम गृही लोग ही जानते थे। उनका सूत्र था –

मानव = दिव्यता

इस सूत्र में $E=mc^2$ सूत्र से भी महत्तर सत्य निहित है। मानव की दिव्यता के सूत्र में वैरियेबल c^2 नहीं है। वैरियेबल c^2 प्रभावशाली है, तथापि यह एक सीमित संख्या है। यह सूचित करता है कि पदार्थ के एक सूक्ष्म अणु में उसके आकार की तुलना में लाखो गुना अधिक ऊर्जा निहित है। परन्तु दूसरे सूत्र हम विस्मयपूर्वक देखते हैं कि इसमें एक ओर अनन्त है, दूसरी ओर आम तौर पर सीमित समझी जानेवाली चीज है। समस्या हमारे साधारण दृष्टिकोण से उत्पन्न होती है, जो हमारी समझ को इन्द्रिय-बोध में ही सीमित कर देती है। सामान्यत: हम मानते हैं कि मनुष्य लगभग छह फुट का एक प्राणी है, जो रक्त, मांस, नसों, पेशियों तथा स्नायुतंत्र आदि से मिलकर बना है और थोड़ी-सी बुद्धि से युक्त है। उपरोक्त सूत्र मानव के विषय में हमारी धारणा का मूलोच्छेद कर देता है और व्यक्ति में निहित अनन्त सम्भावनाओं को प्रकट करने का द्वार उन्मुक्त कर देता है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "कोई भी ग्रन्थ, कोई भी शास्त्र और कोई भी विज्ञान मनुष्य-रूप में प्रकट होनेवाली इस आत्मा की महिमा की कल्पना तक नही कर सकता। वह किसी भी काल का सर्वाधिक महिमामय देवता और एकमात्र ईश्वर है।" मैं वही हूँ। वही 'मैं' है। 'मै' यह साधारण-सा मनुष्य नहीं, बल्कि वही सच्चिदानन्द था। जो तत्त्व इस सूत्र में नही आता, वह वास्तव में अनन्त है और जब उसकी खोज या उपलब्धि हो जाती है, तो समीकरण हल हो जाता है। हमारे जीवन का तात्पर्य केवल संसार के विषय में जानकारियाँ हासिल करना या अपनी कामनाओं की तृप्ति मात्र नहीं, बल्कि सत्य-ईश्वर की अनुभूति तथा परिपूर्णता की उपलब्धि के लिए अपने कर्तव्य को पूरा करना है।

इस सूत्र के अनुसार वास्तविक मानव वह 'आत्मा' है, जो अनन्त एवं सर्वव्यापी है। यही वह सच्चिदानन्द है, जो देश-काल, कारण-कार्य के बन्धन से पूर्णत: मुक्त है। यह अनन्त शक्ति का भण्डार है। इस सत्य की अनुभूति करना ही आत्मबोध है। पास्कल ने कहा था, "ब्रह्माण्ड में मनुष्य की क्या स्थिति है? अनन्त की तुलना में मानो वह शून्य है, शून्य की तुलना मे वह अल्प है और शून्य तथा अनन्त के बीच का कुछ है। इनमे से एक उसे अणुओं-सा सूक्ष्म बताता है और दूसरा ब्रह्माण्ड के अनन्त विस्तार को व्यक्त करता है।" इसी को प्रतिध्वनित करते हुए बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा था, "मनुष्य दो अनन्तों के बीच खड़ा है – परम सूक्ष्म और परम विराट्।" परन्तु रसेल एक बात – उस मनुष्य को बताना भूल गये, जो दोनों छोरो के अनन्त का द्रष्टा है और स्वयं भी अनन्त होकर अपने को सीमित समझता है। एक बात और – यदि हम दो या तीन अनन्तों की बात करें, तो उलझन पैदा हो जाती है, क्योकि वे एक-दूसरे को सीमित कर देते हैं। सर्वव्यापी तत्त्व ही एकमात्र अनन्त है। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इस सत्य की खोज की थी। इसका बोध व्यक्ति को गौरव तथा सम्मान प्रदान करता है। यह उसमें आत्मविश्वास भरने तथा उसमें अनन्त ऊर्जा के प्रवाह में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

काप्रा द्वारा प्रणीत 'भौतिकी-मार्ग'

डॉ. फ्रित्जोफ काप्रा एक प्रसिद्ध अणु-वैज्ञानिक हैं, जिनके शोध पश्चिम के अनेक विश्वविद्यालयों में सराहे गये हैं। आधुनिक भौतिक-विज्ञान और वेदान्त, बौद्धदर्शन तथा ताओवाद आदि प्राच्य आध्यात्मिक परम्पराओं में प्राप्त होनेवाले ब्रह्माण्ड-विषयक मूलभूत विचारो की समानताओं का विशद अध्ययन करने के बाद उन्होने अपनी 'Tao of Physics' (भौतिक-विज्ञान का मार्ग) नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ ने वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों – दोनों को ही आकृष्ट किया। अनेक वर्षों तक आधुनिक भौतिकी तथा उससे सम्बद्ध विषयों के अध्ययन में डूबे रहने के साथ-ही-साथ उनकी पूर्वी देशों के आध्यात्मिक शास्त्रों की परम्परा में भी गहरी रुचि थी।

यद्यपि वे विश्लेषणात्मक विज्ञान में ही डूबे रहे, 'ऊर्जा के नृत्य' की अनुभूति करके भावावेग में उनके अश्रु प्रवाहित होने लगे थे। इसके बाद से, यद्यपि वे वैज्ञानिक क्षेत्र में कार्यरत रहे, परन्तु इसके साथ-ही-साथ वे प्राच्य धर्मों तथा विचारों के मूलभूत भावों का भी अध्ययन करते रहे। उपरोक्त सुप्रसिद्ध ग्रन्थ इसी गहन अनुभूति तथा विराट् अध्ययन का फल है। हमारे देश में सत्य के सन्धान की तीन पद्धतियाँ हैं। इनमें प्रथम है दिव्य उद्गम के कारण पवित्र माने गये शास्त्रों का अध्ययन। वैसे रटना भी शास्त्रों के अध्ययन की एक पद्धति है, परन्तु मुख्य उद्देश्य है इन्हें ठीक से समझना। तदुपरान्त ये शास्त्र युक्ति, शंका-समाधान तथा सभी विरोधों को हटाकर समझे जाने चाहिए। और अन्ततः बौद्धिक रूप से समझे गये इन विचारो की अनुभूति करना। इस प्रकार यदि शास्त्र, युक्ति तथा अनुभूति एक ही निष्कर्ष पर पहुँचें, तो वही सत्य है। इस दृष्टि से डॉ. काप्रा के शब्द उल्लेखनीय हैं। पूर्व की प्राचीन धार्मिक-परम्परा के तत्त्वो का सत्यापन करने के लिए वे अपने वैज्ञानिक ज्ञान तथा अनुभूति का प्रयोग करते हैं। उनका मार्ग एक सच्चे जिज्ञासु का सर्वांगीण मार्ग है। परम सत्य विषयक डॉ. काप्रा तथा अन्य वैज्ञानिकों के निष्कर्ष आगे दिये जायेंगे।

❖ (क्रमशः) ❖

इच्छाओं की शक्ति

स्वामी सत्यरूपानन्द

जिस कलम से यह लेख लिखा जा रहा है, जिस कुर्सी और टेबल का उपयोग लेखन-कार्य में हुआ, उसमें से किसी को भी हम 'इच्छा' नहीं कह सकते। ये सभी जड़ पदार्थ हैं। चेतनाहीन हैं। ये वस्तुएँ भले ही कितनी भी उपयोगी हों, महत्त्वपूर्ण हों, कदाचित उनके बिना हमारा काम भी अटक जाय, परन्तु ये सब चेतनाहीन जड़ पदार्थ ही हैं।

इच्छा केवल चैतन्य प्राणी ही कर सकता है। उनमें भी केवल मनुष्य ही उचित-अनुचित सद्-असद् इच्छा कर सकता है, केवल मनुष्य ही अपनी इच्छा को प्रबल और नियंत्रित कर सकता है। विज्ञान और तकनीक के ये सब चमत्कार, हमारी गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, हमारे महानगर, ये सभी मनुष्य की इच्छाशक्ति के ही चमत्कार हैं, उसी के परिणाम हैं। मनुष्य में जिज्ञासा जागी। उसके मन में तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। उसने कर्म किया। कठोर परिश्रम। और उसके फलस्वरूप आज हमारे सामने आधुनिक संसार है।

ठीक उसी प्रकार आज हम जहाँ हैं, जैसे हैं, सुखी हैं, दुखी हैं, धनी हैं या दरिद्र हैं, यह सब हमारे कर्मों का फल है, परिणाम है। यदि हम अपने कर्मों का विश्लेषण करें, उनके मूल में जाने का प्रयत्न करें, तो हम पायेंगे कि हमारे प्रत्येक कर्म के पीछे कोई न कोई 'इच्छा' है। हमारे कर्मों का प्रेरक स्रोत कोई न कोई इच्छा, आकांक्षा या तृष्णा ही है। हमारी इच्छाओं ने ही हमारे संसार का सृजन किया है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवन की सफलता और सुख-शान्ति का रहस्य है 'इच्छा' या आकाक्षा। अतः जीवन को सुघड़, सफल तथा आनन्दमय बनाने हेतु अपनी इच्छा, आकांक्षाओं पर दृष्टि रखना आवश्यक है। प्रायः होता ऐसा है कि हम अपनी इच्छाओं पर दृष्टि नहीं रखते और इस कारण अपने दुख-कष्टों तथा असफलताओं का दोष दूसरों के मत्थे मढ़ देते हैं। या फिर भाग्य या भगवान को दोष देते हैं।

किन्तु सत्य यह है कि हमारे सुख-दुखों के कारण हम स्वयं ही हैं। हमारे सुख-दुखों का कारण हमारे ही कर्म हैं और प्रत्येक कर्म के पीछे हमारी कोई-न-कोई इच्छा-आकांक्षा रहती है।

मनुष्य चूँकि चैतन्य है, उसमें इच्छा करने की शक्ति है। किन्तु इच्छाएँ सत् और असत् दोनों प्रकार की हो सकती हैं, होती हैं। सत् इच्छाएँ हमसे सत् कर्म करवाती हैं, तो असत् इच्छाएँ हमसे असत् कर्म करवाती हैं। मनुष्य के मन में सत्-असत् दोनों प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। जब मनुष्य सावधान रहकर अपनी इच्छाओं पर दृष्टि रखता है, उनकी जाँच करता है, तभी वह समझ पाता है कि कौन-सी इच्छा सत् है और कौन-सी असत्। सत्-असत् इच्छाओं को पहचानने के पश्चात् असत् इच्छाओं को त्यागकर सत् इच्छाओं का पोषण करना मनुष्य के अपने हाथ में है। सत् इच्छाएँ पुष्ट होने पर वे मनुष्य को सत् कर्म करने की प्रेरणा देती हैं। सत् कर्म से व्यक्ति सच्चरित्र बनता है और चरित्रवान व्यक्ति ही संसार में सुखी और सफल होता है।

अपनी इच्छाओं पर दृष्टि रखनेवाला व्यक्ति अपने आप से अधिक से अधिक परिचित होता जाता है। और जो व्यक्ति अपने आप से जितना अधिक परिचित होता है, वह उतना ही सुलझा हुआ तथा परिपक्व होता है। सुलझा और परिपक्व व्यक्ति जीवन के सभी क्षेत्रों में सफल होता है।

अतः जीवन की सफलता का रहस्य है अपनी इच्छाओं पर सजग और सावधान दृष्टि रखकर सत् इच्छाओं का सतत पोषण और विकास करना। ❖ ❖ ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनर्प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

ईसप की नीति-कथाएँ (१६)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

स्वभाव बदलता नहीं

एक नीग्रो गुलाम के खरीदार को विश्वास दिलाया गया कि उसके चमड़े का रंग धूल के कारण है, क्योंकि उसके पिछले मालिकों ने उसकी अच्छी देखभाल नहीं की। गुलाम को खरीदकर घर लाने के बाद उसने उसकी सफाई के लिए हर साधन का उपयोग किया। उसे रगड़-रगड़कर नहलाया-धुलाया। इसके फलस्वरूप गुलाम को सर्दी-बुखार हो गया, परन्तु उसके शरीर का रंग नहीं बदला।

धीवर और उसका जाल

एक मछुवारा अपने काम में लगा हुआ था। उसने नदी में जाल फेंककर बहुत-सी मछलियाँ पकड़ लीं। इसके बाद वह बड़ी कुशलता के साथ जाल को बाहर खींचने लगा। इस प्रकार उसने सभी बड़ी मछलियों को तो बाहर निकाल लिया, परन्तु जाल के छिद्रों से छोटी छोटी मछलियों को वापस पानी में गिरने से वह नहीं रोक सका।

शिकारी और मछुवारा

अपने कुत्तों के साथ जंगल से लौटते हुए एक शिकारी की भेंट एक मछुवारे से हो गयी, जो पकड़ी गयी मछलियों से भरी टोकरी लिए घर लौट रहा था। शिकारी को मछलियों की इच्छा हुई और मछुवारे को भी उसके शिकार के प्रति तीव्र आकर्षण महसूस हो रहा था। शीघ्र ही दोनों अपनी चीजें आपस में बदलने को राजी हो गये। दोनों ही इस अदल-बदल से इतने खुश थे कि प्रतिदिन इसी प्रकार अदला-बदली करने लगे। आखिरकार एक दिन एक पड़ोसी ने उनसे कहा, "यदि तुम लोगों ने इसी प्रकार करना जारी रखा, तो शीघ्र ही अपनी इस अदला-बदली के मजे से हाथ धो बैठोगे और अपने अपने शिकार को ही रखना पसन्द करोगे।"

आनन्द लेने में भी संयम की आवश्यकता है।

दो कुत्ते

एक आदमी के दो कुत्ते थे। उनमें से एक उसे शिकार में सहायता करने को शिकारी कुत्ता था और दूसरा घर की रखवाली करनेवाला घरेलू कुत्ता। जब वह दिन भर के शिकार के बाद घर लौटता, तो अपने शिकार का एक बड़ा हिस्सा घर के कुत्ते को देता। इस पर नाराज होकर शिकारी कुत्ता अपने सहवासी को बुरा-भला कहते हुए बोला, "दिन भर शिकार का पीछा करना बहुत ही कठिन है और तुम कुछ करते-धरते हो नहीं, पर मेरी मेहनत का फल भोगते हो।" घर के कुत्ते ने कहा, "मित्र, मुझे कुछ कहना बेकार है। दोष तो तुम्हें मालिक को देना चाहिए, जिसने मुझे कुछ करना न सिखाकर दूसरों की मेहनत पर निर्भर रहना सिखाया है।"

बच्चों के गुण-दोष में माता-पिता का भी योगदान होता है।

वृद्धा और इत्र की शीशी

एक बार एक वृद्ध महिला को कहीं पड़ी हुई एक खाली इत्र की शीशी मिल गयी। उसमें अभी इत्र की थोड़ी सुगन्ध बाकी थी। वह लोभपूर्वक कई बार उसे अपनी नाक के पास ले गयी और उसे जोर से सूंघते हुए बोली, "अहा! कितना मधुर है यह! और वह इत्र भी कितना मधुर होगा, जो इस पात्र में ऐसी मधुर सुगन्ध छोड़ गया है।

अच्छे कर्मों की स्मृतियाँ रह जाती हैं।

बैलों के झुण्ड में बारहसिंगा

शिकारी कुत्तों द्वारा पीछा किये जाने पर अपनी जान बचाने के लिए एक बारहसिंगा भागते हुए एक खेत में घुसा और बैलों के लिए बने टाल में जाकर छिप गया। एक बैल ने उसे सावधान करते हुए कहा, "हे दुखी प्राणी! तुम क्यों स्वयं ही अपने शत्रु के घर में पहुँचकर अपने विनाश को आमंत्रण दे रहे हो?" बारहसिंगे ने उत्तर दिया, "मित्र, मुझे थोड़ी देर यहीं रहने दो। मैं मौका देखकर स्वयं ही भाग निकलूँगा।" शाम को किसान बैलों को चारा देने आया, पर उसने बारहसिंगे को नहीं देखा। यहाँ तक कि कुछ मजदूरों के साथ खेत का कारिन्दा भी उस कमरे से होकर गुजरा, परन्तु उसे देख नहीं सका। इस पर बारहसिंगा अपना भाग्य सराहने तथा अपने इस संकट में सहायक उस बैल को धन्यवाद देने लगा। एक बैल ने फिर कहा, "हम लोग सचमुच ही तुम्हारी भलाई चाहते हैं, परन्तु तुम्हारा खतरा अभी टला नहीं है। एक व्यक्ति और भी इस टाल से गुजरने वाला है और उसके पास मानो सौ आँखें हैं; जब तक वह आकर चला नहीं जाता, तुम्हारे जीवन से संकट के बादल छँटे नहीं हैं।" तभी मालिक स्वयं ही अन्दर प्रविष्ट हुआ और बैलों की ठीक ठीक देख-भाल न हो पाने की शिकायत करता हुआ, उनकी नादों के पास जाकर जोरों से चिल्लाने लगा, "क्यों, चारे का अकाल पड़ा है क्या? इनके लिए सोने को आधी भी पुआल नहीं दी गयी है। इन आलसियो ने मकड़ी के जालों तक की सफाई नहीं की है।" इस प्रकार बारी बारी से सब कुछ की जाँच करते हुए उसकी दृष्टि पुआल से बाहर निकले बारहसिंगे के सींगों के

सिरों पर गयी । उसने अपने मजदूरों को बुलाकर बाहरसिंगे को पकड़कर बाँध लेने का आदेश दिया ।

खतरे को कभी कम करके नही आँकना चाहिए ।

चील, बाज़ और कबूतर

एक चील से कबूतर डर गये । वे अपनी सुरक्षा के लिए बाज के पास गये । वह इसके लिए तत्काल राजी हो गया । कबूतरो द्वारा उसे अपने बाड़े में ले आने के बाद उसने वहाँ बड़ा आतंक फैला दिया । और चील वर्ष भर मे जितने कबूतरों को मारती, उससे भी अधिक उसने एक ही दिन में मार डाले ।

ऐसी दवा से क्या लाभ, जो रोग से भी अधिक पीड़ादायी तथा हानिकारक हो!

विधवा और भेड़

एक निर्धन विधवा के पास केवल एक ही भेड़ थी । जब उसका ऊन निकालने का समय हुआ, तो खर्च बचाने की दृष्टि से उसने स्वयं ही उसका ऊन काटने का निश्चय किया । परन्तु यह काम उसने इतने अनाड़ीपने के साथ किया कि ऊन के साथ-ही-साथ भेड़ का मांस भी कटने लगा । पीड़ा से छटपटाते हुए भेड़ ने कहा, "मालकिन, आप मुझे क्यों इतना कष्ट दे रही हैं? मेरे निकल रहे खून से क्या ऊन का वजन बढ़ जायेगा? आपको यदि मेरे मांस की जरूरत हो, तो मुझे कसाई के यहाँ भेज दीजिए । वह मुझे क्षण भर में मार डालेगा, परन्तु यदि आपको मेरा ऊन ही निकालना हो, तो उसे विशेषज्ञ से निकलवाइये, क्योंकि इससे मेरी चमड़ी बच जायेगी ।

जिसका काम उसी को साजे । थोड़ी-सी बचत के प्रयास में भारी नुकसान हो सकता है ।

बीमार चील

अपने अन्तिम दिन गिनता एक बीमार चील अपनी माँ से बोला, "माँ, मेरे लिए शोक मनाने की जगह मेरी आयु बढ़ाने के लिए देवताओं से प्रार्थना करो ।" मां ने उत्तर दिया, "बेटा, ऐसा कौन देवता है, जिसकी वेदी से चढ़ावा चुराकर तुमने नाराज नहीं किया है? भला कौन देवता तुम पर द्रवित होगा?"

बुरे दिनों में यदि हमें सहायता चाहिए, तो अच्छे दिनों में हमें मित्र बनाने चाहिए ।

जंगली गधा और सिंह

एक जंगली गधे तथा एक सिंह ने आपस में समझौता किया, ताकि वे वन के पशुओं को आसानी से पकड़ सकें । इसमें सिंह को अपनी ताकत से और गधे को अपने वेग से सहयोग करना था । जब दोनों ने मिलकर यथेष्ट संख्या में पशुओं का शिकार कर लिया, तो सिंह उनका वितरण करने लगा । उसने पूरे भोजन को तीन भागों में बाँट दिया । इसके बाद वह बोला, "राजा होने के कारण पहले हिस्से पर मेरा अधिकार है; शिकार में तुम्हारे साथ सहयोग करने के कारण दूसरा हिस्सा मेरा हुआ और तीसरा हिस्सा यदि तुम छोड़कर भाग जाओ, तो इसी में तुम्हारी भलाई है ।"

सच कहा है – जिसकी लाठी उसकी भैंस ।

गरूड़ और तीर

शिकार करने की इच्छा से एक गरुड़ एक ऊँची चट्टान पर बैठा एक खरगोश की गतिविधि का निरीक्षण कर रहा था । एक बहेलिए ने अपने छिपने के स्थान से गरुड़ को देखा और उस पर निशाना लगाकर उसे बुरी तरह घायल कर दिया । गरुड़ ने अपने हृदय में घुसे हुए तीर पर एक निगाह डाली और देखा कि वह उसी के पंख से बना हुआ था । उसने आह भरते हुए कहा, "यह मेरे लिए दुहरे खेद की बात है कि मैं जिस तीर से मारा जा रहा हूँ, वह मेरे ही पंखों से बना है ।

सिंह और डॉलफिन

समुद्रतट पर घूमते हुए एक सिंह के सामने एक डॉलफिन ने पानी से सिर उठाया । सिंह ने उसके सामने एक प्रस्ताव रखते हुए कहा कि चूँकि मैं पृथ्वी के सारे पशुओं का राजा हूँ और तुम सभी जलचरों के, अत: हम दोनों में आपसी समझौता होना चाहिए । डॉलफिन तत्काल इस प्रस्ताव पर सहमत हो गयी । थोड़े दिनों बाद ही सिंह की एक जंगली साँड़ से लड़ाई हो गयी । उसने सहायता के लिए डॉलफिन को बुला भेजा । धरती पर पहुँचने में असमर्थ होने के कारण, डॉलफिन उसकी सहायता करने को इच्छुक होकर भी लाचार थी । सिंह ने उसे द्रोही कहकर उसका तिरस्कार किया । उत्तर में डालफिन ने कहा, "मित्र, मुझे नहीं, बल्कि प्रकृति को ही दोष दो, जिसने मुझे समुद्र का साम्राज्य देकर भी, पृथ्वी पर चलने के बिल्कुल ही अयोग्य बनाया है ।

गड़ेरिया और समुद्र

एक गड़ेरिया समुद्र के किनारे भेड़ें चरा रहा था । समुद्र को अत्यन्त शान्त देखकर उसे व्यापार करने हेतु समुद्रयात्रा करने की इच्छा हुई । उसने अपनी सारी भेड़ों को बेच डाला और उससे प्राप्त हुई सारी राशि को खजूर में निवेश करके माल के साथ यात्रा पर निकल पड़ा । परन्तु रास्ते में बड़े जोर का तूफान आया और जहाज के डूबने का खतरा उपस्थित होने पर उसने अपना सारा माल समुद्र में फेंक दिया । इस प्रकार खाली जहाज के साथ वह किसी प्रकार केवल अपनी जान भर बचा सका । थोड़े दिनों बाद जब समुद्र के पास से होकर गुजरते हुए किसी ने फिर उसे परम शान्त देखा, तो इस पर निर्धन गड़ेरिया बोल उठा, "इसे फिर खजूर खाने की इच्छा हो रही है, इसीलिए यह शान्त दिखाई दे रहा है ।"

सामने से दिखनेवाली शान्ति क्षणिक भी हो सकती है ।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (४)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(पिछले दो अंकों में हमने देखा कि स्वामीजी ने १८९२ ई. का ग्रीष्मकाल किस प्रकार महाबलेश्वर में बिताया और वहाँ किन विषयो पर लिमड़ी क ठाकोर साहेब से चर्चा की । उसे बाद का वृतान्त इस प्रकार है ।)

पूना आगमन

जून (१८९२) महीने के प्रारम्भ में किसी दिन स्वामीजी ठाकोर यशवन्त सिंह जी के साथ पूना आये और उन्हीं के साथ निवास करने लगे । ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर उन्होंने दो-तीन सप्ताह बिताए और ऐसा भी सम्भव है कि ठाकोर साहेब की डायरी के अन्तिम ३-४ दिनों के विवरण पूना में हुई चर्चा के आधार पर ही लिपिबद्ध हुए हों । वही से १५ जून को लिखित एक पत्र में स्वामीजी ने अपना पता दिया है – 'एल्लपा बलराम का मकान, न्युट्रल लाइन्स, पूना' । इसी पत्र में वे लिखते हैं – "महाबलेश्वर के ठाकोर साहेब के साथ मैं यहाँ आया और उन्हीं के साथ रह रहा हूँ । यहाँ पर मैं एक सप्ताह या कुछ अधिक रुकूँगा और तत्पश्चात् हैदराबाद होते हुए रामेश्वरम जाऊँगा ।" लगता है इस बार पूना में स्वामीजी ने लगभग दो सप्ताह बिताए थे । बाद में इन्हीं दिनों का स्मरण करते हुए उन्होंने कु. जोसेफिन मैक्लाउड ने नाम अपने एक पत्र (१७-२-१९०२) में लिखा है – "मुझे खुशी है कि तुम कुमारी कार्नेलिया सोराबजी से मिली और वे तुम्हे पसन्द आयी । मैं पूना में उनके पिता से परिचित था, उनकी एक छोटी बहन को भी जानता हूँ, जो अमेरिका म थी । उनकी माताजी को शायद उस संन्यासी के रूप में मेरी याद हो, जब मैं पूना मे लिमड़ी के ठाकोर साहेब के साथ रहा करता था ।" इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी वहाँ पर सोराबजी परिवार के पड़ोस में ही कहीं ठहरे थे । पूना से १५ जून को स्वामीजी ने जूनागढ़ के दीवान जी को लिखित पत्र में बताया है, "मैने आपके मित्र भावनगर के राजकुमार के शिक्षक सुर्तो से मुलाकात की । वे बहुत ही सज्जन व्यक्ति हैं । उनसे परिचित होना एक सौभाग्य की बात है; वे बहुत ही अच्छे एवं उत्तम प्रकृति के पुरुष हैं ।"

स्वामीजी के पूना प्रवास का एक और भी रोचक तथ्य हमारी दृष्टि मे आया है और वह है मराठी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार हरिनारायण आप्टे से उनकी भेंट । कु. वेणूताई पानसे द्वारा लिखित आप्टे की जीवनी (पुणे, १९३१, पृ.२०६) मे लिखा है – "शिकागो धर्ममहासभा में जाने के पूर्व जब स्वामी विवेकानन्द पूना मे आये थे, तब वे आनन्दाश्रम भी गये थे । हरिभाऊ का उनके प्रति विशेष आदर भाव था ।"

पूना का आनन्दाश्रम संस्कृत में शास्त्र-ग्रन्थों के प्रकाशन की एक प्रमुख संस्था है और स्वामीजी वहाँ संग्रहित ग्रन्थ देखने गये हो, इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं । एक अन्य सूत्र से भी ज्ञात होता है कि स्वामीजी ने वहाँ रहकर शास्त्रों के अध्ययन मे कालयापन किया था । स्वामी प्रेमानन्द से सुनकर श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने लिखा है – "पूना में संस्कृत ग्रन्थ विशेष रूप से मिलते हैं, इसीलिए स्वामीजी ने वहाँ रहने का विचार किया । इस निवास के दौरान उन्होंने संस्कृत शास्त्रों का विशेष अध्ययन किया ।" (बँगला में श्रीमद् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, खण्ड २, पृ. १९७) ।

इसके अतिरिक्त श्री वी. बी. आम्बेकर ने अपनी 'हरिभाऊ – विविध दर्शन' नामक मराठी पुस्तक (कोल्हापुर, सं. १९६४, पृ. ३१) में लिखा है – "विवेकानन्द जब १८९३(?) में यहाँ आये थे, तब स्वर्गीय न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे के रे मार्केट के निकट स्थित मकान में उनका निवास हुआ था । उस समय रानाडे ने नगर के प्रतिष्ठित लोगों को स्वामीजी के साथ भोजन के लिए निमंत्रित किया था । हरिभाऊ भी भोज में गये थे । भोजनोपरान्त स्वामीजी ने भाषण दिया । इस भाषण के विचारों का हरिभाऊ पर प्रभाव हुआ, इसी कारण उनके 'मी', 'कर्मयोग', 'आज' आदि उपन्यासों में भावानन्द, रामानन्द, अभेदानन्द, अद्वयानन्द आदि पात्रों का नाम आया है ।"

स्वामीजी न्यायमूर्ति रानाडे के घर में ठहरे थे क्या? हमें तो ऐसा नही लगता । सम्भव है कि ठाकोर साहेब के निवासस्थान पर ही उपरोक्त घटना हुई हो और सम्भव है वही पर उनकी श्री हरिनारायण आप्टे और साथ ही न्यायमूर्ति रानाडे से भी भेंट हुई हो । वैसे रानाडे प्रार्थनासमाज के प्रमुख नेता तथा समाज-सुधारक के रूप में प्रसिद्ध थे । आगे चलकर हम देखेंगे कि स्वामीजी जब कोल्हापुर पहुँचे, तो उनके पास 'महादेव गोविन्द' का लिखा हुआ एक परिचय पत्र था । सम्भवत: यह पत्र न्यायमूर्ति रानाडे द्वारा ही लिखा हुआ था । श्री रानाडे के साथ विचारो का मतभेद होते हुए भी स्वामीजी का उनसे परिचय पत्र लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि अमेरिका जाने के पूर्व उन्होंने थियासोफिकल सोसायटी से भी तो परिचय-पत्र पाने का प्रयास किया था, जबकि वे उक्त सोसायटी के अधिकांश मतो के विरोधी थे । अस्तु ।

इसके अतिरिक्त पूना के एक अन्य सुप्रसिद्ध व्यक्ति प्रोफेसर महादेव शिवराम गोले भी स्वामीजी के सम्पर्क मे आये थे । श्री विद्याधर पण्डित के छद्मनाम से लिखित तथा १८९८ ई. में प्रकाशित 'हिन्दूधर्म आणि सुधारणा' नामक अपनी सुप्रसिद्ध मराठी पुस्तक (पृ. ५७-७५) में श्री गोले ने एक बंगाली संन्यासी से अपनी भेंट एवं चर्चा का सविस्तार वर्णन किया

है। स्वामीजी के साथ उनकी भेंट स्वामीजी की इस पूना-यात्रा के दौरान हुई या फिर जब वे ३-४ महीनों बाद पुन: वहाँ आये उस समय – इसका ठीक निर्धारण करने का हमारे पास कोई साधन नहीं, तथापि सुविधा की दृष्टि से हम उसका विवरण यहीं देते हैं।

श्री गोले कट्टर सनातनी थे। उन्हीं दिनों एक बार बातचीत के दौरान उनके एक ईसाई मित्र ने कहा कि ईसाई धर्म श्रेष्ठ होने के कारण ही उसके अनुयायी व्यक्ति तथा राष्ट्र सुखी-समृद्ध तथा शक्तिशाली हैं। और हिन्दूधर्म निकृष्ट होने के कारण हिन्दू लोग गरीब, दुर्बल तथा कष्ट में हैं। इन बातों को सुनकर श्री गोले के विचारों में बड़ा द्वन्द्व उत्पन्न हुआ। मन की इसी दोलायमान अवस्था में उनकी स्वामीजी से भेंट हुई, जिसका वर्णन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है —

"मेरा मन एक बार इधर और एक बार उधर को झोंके खा रहा था कि आकस्मिक रूप से मेरा सम्पर्क एक विद्वान् बंगाली साधु के साथ हुआ, जिनका नाम था बाबू सदानन्द। ये सज्जन पहले सम्पन्न कुल के थे, शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने काफी यात्रा की और सर्वत्र उनकी पहचान थी। वेदान्त तथा व्यावहारिक ज्ञान का उनके विचारों में विलक्षण मेल था और इस कारण उनका वैराग्य मुझे बड़ा विस्मयजनक लगा। अन्य बहुत-से लोग, जो उनसे मिलने गये थे, उनका समाधान करने की स्वामीजी की शैली देखकर मुझे लगा कि क्यों न मैं भी अपने मन की शंका उनके सामने रखूँ और मैंने उसे उनके सम्मुख रखा। उन्होंने मुझे जो उत्तर दिया, उन्हें अब में सारांश में कहता हूँ। (मूल वार्तालाप हिन्दी में हुआ था, उसका सारा रस मैंने यहाँ पर स्वभाषा में उतारने का प्रयास किया है।)"

स्वामीजी के उन मूल्यवान विचारों को प्रस्तुत करने के पूर्व हम थोड़ा इस विषय पर चर्चा करेंगे कि उन बंगाली संन्यासी को स्वामी विवेकानन्द ही मानने का हमारा क्या आधार है। एक परिव्राजक संन्यासी के रूप में अपने भारत-भ्रमण के दौरान स्वामीजी अपना नाम प्राय: गुप्त ही रखते थे। व्यावहारिकता के तकाजे से उन दिनों उन्होंने अपने लिये कई नामों का उपयोग किया था। उनके इस काल के पत्रों में हमें उनके विविदिषानन्द, सच्चिदानन्द आदि नाम भी दीख पड़ते हैं। सम्भव है इस दौरान उन्होंने सदानन्द नाम भी धारण किया हो, या फिर 'विविदिषानन्द' नाम का उच्चारण कठिन होने से उसी का अपभ्रंश होकर 'बाबू-सदानन्द' हो गया हो। परन्तु उपरोक्त परिचय तथा उसके साथ दिये हुए विचारों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे बंगाली संन्यासी निश्चित रूप से स्वामी विवेकानन्द ही थे। श्री मैथ्यू लेडलें ने अपनी पुस्तक ('Philosophical Trends in Modern Maharashtra' Ed. 1976, p. 209) और 'मराठी भक्तिपरम्परा आणि श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द' ग्रन्थ में (पृ.२६५-६६) श्री जी. वी. अकोलकर ने ऐसा ही माना है। जिस तरह के विचार श्री गोले ने लिपिबद्ध किये हैं, वैसे विचार हमें उस काल में स्वामीजी के साहित्य को छोड़ अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलते।

स्वामीजी से अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर गोले के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। इस चर्चा का सारांश उन्होंने अपनी मराठी पुस्तक के लगभग १५ पृष्ठों में दिया। इसमें उन्होंने यूरोपीय सुधारवाद के साथ हिन्दू सुधार-आन्दोलन की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए सुन्दर ढंग से बताया है कि क्यों हिन्दू धर्म के मूलभूत विचारों का पाश्चात्य सुधारवाद के साथ मेल नहीं बैठ सकता। विषय का महत्त्व देखते हुए हम उस सम्पूर्ण अनुलेखन का हिन्दी अनुवाद देने जा रहे है। विषयों में कहीं विसंगति दीखे, तो उसे उक्त लेखक की धारणा-शक्ति का ही दोष कहना होगा। स्वामीजी के उपरोक्त उत्तर को उद्धृत करने के पूर्व, प्रश्नकर्ता का भी संक्षिप्त परिचय देना भी हमें उचित लगता है, जो इस प्रकार है –

श्री महादेव शिवराम गोले (१८५८-१९०७) का जन्म सतारा जिले के मढें नामक ग्राम में हुआ था। ६-७ वर्ष की आयु में ही पितृवियोग हो जाने के कारण वे अपनी माता के साथ ननिहाल चले गये और वहीं शिक्षा प्राप्त की। उनके मामा कृष्णभट्ट गोखले अत्यन्त निष्ठावान हरिभक्त थे। पूना के शनिवार पेठ में स्थित गोवर्धन मन्दिर उन्हीं का बनवाया हुआ है। महादेव ने १८७७ ई. में मैट्रिक तथा १८८३ में विज्ञान विषय के साथ एम.ए. की परीक्षा पास की। तत्पश्चात् वे डेकन एज्यूकेशन सोसायटी के आजीवन सदस्य बन गये। प्रारम्भ में उन्होंने विद्यालय के मुख्याध्यापक के रूप में कार्य किया एवं १८९५ में श्री आगरकर के निधनोपरान्त उनकी प्राचार्य पद पर नियुक्ति हुई। १९०२ ई. में सेवानिवृत्त हो जाने के बाद वे अपने गाँव चले गये और वहीं पर १९०७ ई. उनका देहावसान हुआ। वैसे उन्होंने ७-८ पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु 'ब्राह्मण और उनकी विद्या' तथा 'हिन्दू धर्म और सुधारवाद' नामक दो पुस्तकें भाषा एवं विचारों की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। उन दिनों परम्पराप्रिय सनातनी लोग सुधारवादियों के नवीन आक्रमण का सामना करने में लगे थे। श्री गोले ने उन्हीं के एक योग्य प्रतिनिधि के रूप में सनातन परम्परावादियों का पक्ष लेकर अपने मत व्यक्त किये। उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से अपने ग्रन्थों में विचार किया है कि सुधारवाद से लोग क्यों डरते हैं और उसके दुष्परिणाम किस रूप में और कहाँ तक हो सकते हैं।

श्री गोले द्वारा लिपिबद्ध स्वामीजी के विचारों का हिन्दी अनुवाद निम्नलिखित है –

ईसाई धर्म और सुधारवाद

"सुधारवाद और धर्म ये दोनों भिन्न भिन्न पन्थ हैं और जिसने एक में पाँव रख दिया है उसे दूसरे को भूल जाना

चाहिए। सुधारवाद ऐहिक सुख के लिए है और धर्म पारमार्थिक सुख के लिए। हम कहते हैं कि पाश्चात्य लोगों का काफी सुधार हो चुका है, इसका कारण यह है कि उन्होंने ऐहिक सुख की ओर ही पूरा ध्यान दिया है और अपना स्वधर्म पूरी तौर से भूल गये हैं। हम उनका बल, उनका उद्यम तथा उनका सुख देखते हैं और विस्मित रह जाते हैं। हमें लगता है कि उनके धर्म में ही कुछ विशेष गुण होगा। पर वे अपना स्वीकृत धर्म आचरण में न लाने के विषय में जितने सावधान है, उतना पृथ्वी पर दूसरी कोई भी जाति नहीं हैं। ईसाई लोगों में भी जिनमें थोड़ा-बहुत धर्मभाव है, वे इसे स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं और इसके लिए बड़ा खेद भी व्यक्त भी करते हैं, पर सुधारवाद के तूफानी वेग के सामने ऐसे क्षुद्र बुलबुलों की क्या बिसात! यूरोपीय राष्ट्रों के इतिहास का अवलोकन करने से ईसाई धर्म की दुर्बलता नजर में आ जाती है और अब तो वह दुर्बलता चरम सीमा तक जा पहुँची है। तुमने मोरियर नामक जिस व्यक्ति का उल्लेख किया है, उन्हें एक सामान्य ईसाई गृहस्थ का उदाहरण समझो, अन्तर इतना ही है कि ऐसे लोग प्रसंग के अनुसार अल्पाधिक स्पस्टवक्ता या प्रियभाषी हो जाते हैं। आम ईसाई लोग जब अपने हृदय के व्यावहारिक विचार बिल्कुल स्पष्ट रूप में व्यक्त करते हैं, तो हम हिन्दू लोग उनकी शक्ति को देखकर चकित अवश्य हो जाते हैं, पर उनकी नीच मनोवृत्ति पर हमें घृणा भी आती है। ईसा मसीह यदि धरती पर पुन: अवतरित हों, तो उनके राज्य में हमें जितनी सहजता से प्रवेश मिलेगा, उतना कम ही ईसाई लोगों द्वारा सम्भव होगा। कोई भी इस बात को स्वीकार करेगा कि ईसा मसीह ने जिन तत्त्वों का उपदेश दिया उनका स्वयं ईसा (के अनुयाइयों) की अपेक्षा हमारे सन्त तुकाराम ने कहीं अच्छी तरह पालन किया।

"यूरोप में सुधारवाद के काल को कुछ लोग पुनर्जीवन का काल कहते हैं। ऐसा कहना अनुचित न होगा कि धर्मपालन से राष्ट्र में जो मृतकता आ गई थी, उससे पुनर्जीवन हुआ। यूरोपीय सुधार के अब लगभग तीन सौ वर्ष हो चुके हैं। कोई पूछे तो इस सुधारवाद की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है – ज्ञान एवं ऐश्वर्य के लिए असीम पिपासा और इसके फलस्वरूप ऐहिक सुखों के प्रति परम आकर्षण – मन की ऐसी अवस्था एवं तदनुरूप आचरण को सुधारवाद कहते हैं। हमारे और यूरोपीय लोगों के बीच एक बड़ा अन्तर है। हम लोगों की बर्बरता गये अनेक शताब्दियाँ बीत चुकी हैं। जबकि यूरोपीय लोगों में से इसे गये मात्र कुछ ही शताब्दियाँ बीती हैं। हम लोगों की स्वाभाविक मनोवृत्ति से क्रूरता, साहस व चंचलता आदि गये काफी काल हो चुका है; जबकि यूरोपीयों में ये वृत्तियाँ अब भी काफी-कुछ विद्यमान हैं। अनेक शताब्दियों तक हमारे जीवनक्रम पर सद्-असद् विचारशक्ति का प्रभाव होने के कारण इसने हमारे स्नायुओं का बल शान्त और युद्धप्रीति को समाप्तप्राय कर दिया है। यूरोपीय लोग अब जाकर इस अवस्था में आने की शुरुआत कर रहे हैं। इसी कारण हम लोग धार्मिक और सन्तुष्ट हो गये हैं; यूरोप में भी आगे चलकर कदाचित् यह अवस्था आयेगी।

"ईसा मसीह हम लोगों की ही श्रेणी के थे। उन्होंने गरीब, दुर्बल तथा पीड़ितों के हृदय को आश्वासन देकर उनमें धर्मबल तथा पारमार्थिक सुख की अभिरुचि पैदा करने की चेष्टा की, परन्तु उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म अनुपयुक्त स्थान में जा पड़ा। जो लोग देशाभिमान, राजसत्ता, युद्धप्रेम तथा सामान्यत: बर्बरता की अवस्था में थे, उनके बीच दीनों के लिए निर्मित इस धर्म की पूरी दुर्दशा भला क्यों न होती? स्वाभाविक रूप से ऐसा ही हुआ। जिन थोड़े लोगों में पहले से ही धर्मप्रीति थी, उनके ईसाई पन्थ अपना लेने से उन्हें हमारे यहाँ के साधुओं के समान वैराग्य प्राप्त हुआ। पर बाकी लोग अज्ञानवश ऐश्वर्य-लोभी धर्माधिकारियों के चंगुल में फसकर मूर्ख बन गये। इन धर्माधिकारियों ने हर प्रकार के अनाचार आरम्भ किये; धर्मतत्त्व के साथ लोगों का परिचय नहीं होने दिया और धर्म के नाम पर उन्हें लूटने भी लगे। उन धर्माधिकारियों के क्रूर एवं निन्द्य कृत्यों का वर्णन तक सन्तापकारी है। इन धर्माधिकारियों ने ईश्वर के जो अधिकार बलपूर्वक ले लिये थे, धन एवं सहायता के बदले में वे उसका कुछ अंश राजसत्ता के लिए तड़पनेवाले लोगों को भी देने लगे। राजा, सरदार तथा जागीरदारों को अपनी मनोकामना यथेच्छा पूरी करने की सुविधा हो गयी। इस प्रकार यूरोप में प्रारम्भ से ही धर्म की दुर्दशा के फलस्वरूप इतने अनाचार शुरू हुए और अज्ञानी लोगों की इतनी दुर्गति हुई कि जिसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती।

"ईसाई राष्ट्रों के प्राचीन तथा अर्वाचीन अर्थात् पिछली उन्नीस शताब्दियों का इतिहास पढ़ने से ऐसा लगता ही नहीं कि वह ईसा मसीह के अनुयाइयों का इतिहास है। ईसाई जगत् के इतिहास में एक भी पृष्ठ ऐसा नहीं मिलता, जिसे पढ़कर ईसा अपने अनुयाइयों की तारीफ करते, बल्कि उल्टे वे जो भी पृष्ठ पलटते, उसे देखकर उनके ध्यान में आ जाता कि किस प्रकार उनके अनुयाइयों ने अपनी ऐहिक महत्वाकांक्षाओं के चलते धर्म की दसों आज्ञाओं को तोड़ा है और उनके पर्वतोपदेश को समेटकर किनारे रख दिया है।

"ईसाई धर्म की काफी दुर्दशा हो जाने के बाद सुधारवाद की दिशा में उसका उद्धार शुरू हुआ। इस उद्धार के प्रयत्न से क्रमश: उसमें दुर्बलता आती गई। धर्मतत्त्व बिल्कुल ही तले में डूब गया। आजकल ईसाई धर्म का खोखला ढाँचा मात्र ही, बड़े ताम-झाम के साथ, कहने मात्र को पूज्य होकर खड़ा है। पाश्चात्य सुधारवाद ने कुछ शर्तों पर उसे थोड़ा-सा स्थान दे रखा है, जहाँ वह अपने अंगों को खूब संकुचित करके निवास करता दीख पड़ता है। रोमन लोग जब अन्य राष्ट्रों पर विजय

पाकर लौटते थे, तो रोम में प्रवेश करते समय वे एक बहुत बड़ी शोभायात्रा निकालते थे, जिसमें जीतकर लाये हुए राजाओं, राजपुत्रों, द्रव्यों तथा दासों आदि को बाँधकर आगे आगे चलाया जाता था । सुधारवाद ने भी इसी प्रकार अपनी विजय की शोभायात्रा में ईसाई धर्म को आगे आगे चलाने का काम किया है । उसके साथ समझौता हो गया है कि यह धर्म – ज्ञान, उद्यम, युद्ध तथा राजकीय क्रिया-कलापों में आड़े नहीं आयेगा । स्नेह-सम्बन्ध तथा मनोरंजन की वृद्धि में धर्म का उपयोग किया जा सकता है, ऐसा मानकर धर्मोपासना के लिए आवश्यकतानुसार भव्य तथा सुन्दर देवालय बना दिये गये हैं । धर्मोपदेशकगण वहाँ आनेवालों को हल्के से कोंच सकते हैं या धीरे से गुदगुदी कर सकते हैं, पर वह भी उन्हें सुधारवाद तथा श्रोताओ की मन:स्थिति देखकर ही करना पड़ता है । कुल मिलाकर देखें तो सुधारित राष्ट्रो में ईसाई धर्म इस दुविधा में फँसा हुआ है कि सुधारवाद के स्तुतिपाठक का कार्य करते हुए जीवित रहे या फिर विनाश को प्राप्त हो जायँ । यूरोपवासी शायद सोचते हैं कि अपने अन्यायों तथा अपराधों को क्षमा करनेवाला यदि कोई है, तो उसे सन्तुष्ट रखने हेतु इस संस्था को रहने दो । पर शेक्सपियर द्वारा सुझाया गया प्रश्न यहाँ भी उठता है और वह यह कि अन्याय व अपराध के द्वारा जो बड़ी उपलब्धियाँ होती हैं, उन्हें बनाये रखकर क्षमा की आशा करना उचित है क्या? प्रतिदिन अपराध करना और फिर प्रतिदिन क्षमा माँगना – क्या यह परम दयालु ईश्वर को पसन्द आयेगा?

"यूरोपीय लोगों ने जहाँ जहाँ भी जाकर बस्तियाँ बनायी हैं, वहाँ वहाँ के मूल निवासियों को उन्होंने समाप्त कर दिया है । जो थोड़े से बचे हुए हैं, उनका अस्तित्व भी संकट में है । उनके लुप्त होने का मूल कारण यह है कि आरम्भ में यूरोपीय लोगों ने उनके पीछे लगकर उन्हें गोलियों से मारा या फिर निरे पशुओ के समान काट डाला । फिर उनका पूरा विनाश हो जाने के बाद, ईसाई धर्मोपदेशक वहाँ गये और बचे हुए मूल निवासियों को हल्की श्रेणी का ईसाई बनाने का प्रयास शुरू हुआ । यूरोपीय लोगों ने जिन लोगों को परतंत्र बनाया उनके प्रति राजकीय बर्ताव तो अन्याय एवं क्रूरतापूर्ण रहा, पर उनकी आत्माओं को तारने के लिए ईसाई उपदेशकों तथा उनके खर्च के लिए धन का अभाव नहीं होने दिया गया । बहुत-से ईसाई लोगों को शायद ऐसा लगता होगा कि उनके अपने यहाँ से जो धर्म चला गया, उसका क्यों न दूसरों के लिए उपयोग हो!

"राजनीति के चलते ईसाई लोगों ने केवल पर धर्मावलम्बियों के साथ ही ऐसा व्यवहार नहीं किया; ईसाई राष्ट्रों में पहले जातिभेद या वर्गभेद बड़ा प्रबल था और तत्कालीन धर्म के द्वारा उसका मण्डन किया जाता था । उन दिनों निम्नवर्ग की हालत बड़ी दुखद तथा प्राय: दासों की सी थी; अब उसकी निम्नवर्ग की नयी श्रमिक वर्ग की स्थिति हुई है और सुधारवाद की प्रगति के तत्त्व प्रचलित होने के कारण उनका पहले जैसा ही हाल हो रहा है ।

"अब चिन्तन के क्षेत्र में भी ईसाई लोगों के मन का विलक्षण अहंकार उन्हें नहीं छोड़ता । ईसाई ग्रन्थकारों को इस बात की कल्पना तक नहीं है कि जिस प्रकार वे अपने धर्म तथा उसकी रीति-नीति की विवेचना करते समय पूरे सौजन्य के साथ गुण-दोषों का परीक्षण किया करते हैं, उसी प्रकार के सौजन्य सहित अन्य लोगों के धर्म आदि का भी परीक्षण करना उचित है । जिसके रीति-नीति का विवेचन करना है, उसके साथ यदि अपनी पूर्ण सहानुभूति रही, तभी अपना मत उचित होता है, नहीं तो अनजाने में ही पक्षपात होता है । सुधरे हुए निष्पक्ष सरल मन के ईसाई लोगों के भीतर भी ऐसी सहानुभूति नहीं आती और ईसा के आदेशों में यही आदेश सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । कोई सच्चा ईसाई है या नहीं, इसकी परख यही देखकर हो सकती है कि वह इस आदेश का पालन करने में कितना सक्षम है । अपना जो है सो अच्छा है और दूसरों का जो है सो बुरा है, अपने में जो बुराई दिखती है उसका गूढ़ार्थ लेना और दूसरों में जो बुराई दिखे उसका स्पष्टार्थ लेना, आदि प्रकार से अपनी श्रेष्टता सिद्ध करनेवाले, अहंकार के वशीभूत और अपनी गर्वोक्तियों से पर-धर्मावलम्बियों को पीड़ा देनेवाले अन्य कोई लोग पृथ्वी पर नहीं हैं ।

"सारांश यह कि ईसाई धर्म के आचार का केवल यूरोपवासियों की कुटुम्ब-व्यवस्था मात्र के भीतर ही पालन किया जाता है और वह भी पूर्व-परम्परा के कारण । बाकी व्यवहार से और विशेषकर राजनीति से उन लोगों ने ईसाई धर्म को पूरी तौर से निकाल डाला है । आजकल सुधार की सत्ता हर जगह स्थापित हो चुकी है । शौर्य, वीरता, साहस, ज्ञान, शोध, बुद्धिमत्ता, कल्पना आदि अनेक गुणों में पाश्चात्य लोग अन्य राष्ट्रो से आगे निकल गये है और इस कारण उनका सर्वत्र वर्चस्व स्थापित हो गया है । इन समस्त गुणों को सुधार के कार्य में लगाने के कारण ही उनकी उन्नति हुई है । उनके इस वर्चस्व अथवा उन्नति का ईसाई धर्म से बिल्कुल भी सम्बन्ध नहीं हैं । कोई भी धर्म ऐसी उन्नति के काम में आनेवाला नहीं है, बल्कि उल्टे उसे तो ऐहिक उन्नति में बाधक होना चाहिए । हमारे देश में धर्म का ऐसा परिणाम स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है । आज मनुष्य के सामने यह प्रश्न खड़ा है कि उसे पूर्वोक्त व्याख्या किये अनुसार सुधारवाद चाहिए या फिर धर्म चाहिए? कितनी मात्रा में सुधार चाहिए और कितनी मात्रा में धर्म चाहिए? धर्म भी न हो और सुधार भी न हो, तो ऐसी अवस्था को केवल बर्बरता की अवस्था कहना होगा । धर्म तथा सुधारवाद के बीच के विरोध को और भी स्पष्ट करने के लिए अब हम सुधारवाद तथा ईसाई धर्म के मूल तत्त्वों की विवेचना करेंगे ।"

❖ (क्रमश:) ❖

आचार्य रामानुज (१६)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी अपने युगधर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्य:प्रकाशित बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रात:स्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा से परिचय कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। – सं.)

१२. संन्यास

इसी प्रकार छह महीने बीत गये। एक दिन महापूर्ण तथा रामानुज दोनों ही कार्यवश घर के बाहर गये हुए थे। घर में जमाम्बा स्नान करने के बाद भोजन बनाने की तैयारी मे लगी थी। सारी व्यवस्था हो जाने के बाद वे कलश लेकर पानी लाने निकट स्थित कुएँ पर गयीं। उसी समय महापूर्ण की सहधर्मिणी भी रंधन के लिए जल लाने अपना कलश लेकर उसी कुएँ पर पहुँचीं। दोनों ने एक साथ ही अपना अपना कलश कुएँ में डाला और पानी भर जाने पर एक साथ ही रस्सी खींचने लगीं। उसी समय महापूर्ण-पत्नी के कलश के जल की दो-चार बूँदें जमाम्बा के कलश में जा गिरीं। इस पर जमाम्बा ने क्रोध में अपना आपा खोकर कठोर स्वर में गुरुपत्नी से कहा, "क्या तुम अन्धी हो गयी हो? देखो, अपनी लापरवाही से तुमने मेरा एक घड़ा जल बरबाद कर दिया। गुरुपत्नी हो इसीलिए क्या बिल्कुल सिर पर सवार हो जाओगा? क्या तुम्हें पता नहीं कि तुम्हारे पिता की अपेक्षा मेरे पिता कितने उच्च कुल के हैं? तुम्हारा स्पर्श किया हुआ जल मैं भला कैसे उपयोग में ला सकती हूँ? मूर्ख पति के हाथों पड़कर मेरा जाति-कुल सब गया।"

इन कटु बातों को सुनने के बाद महापूर्ण की पत्नी ने विनयपूर्वक क्षमा माँगी। वे स्वभाव से ही परम शान्त एवं सुशीला थीं। यद्यपि उनके मन को तीव्र आघात पहुँचा था, तो भी वे उसे छिपाकर घर लौट आयीं और कलश को भूमि पर रखकर एकान्त में रोने लगीं। थोड़ी देर बाद महापूर्ण घर आये। उन्होंने पत्नी को रोते देखकर उसका कारण पूछा और सब कुछ जान लेने के बाद कहा, "नारायण की इच्छा नहीं है कि अब हम और यहाँ पर निवास करें, इसी कारण उन्होंने जमाम्बा के मुख से तुम्हें कटु बातें सुनायी हैं। तुम दुखी मत होना। प्रभु जो भी करते हैं, सब मंगल के लिए ही होता है। चलो, अब हम और विलम्ब न कर श्री रंगनाथ का दर्शन करने चले। बहुत दिनो से मैंने उनके पादपद्मों की पूजा नहीं की है। इसीलिए उन्होंने ये कठोर बातें कही हैं।" इतना कहकर वे क्रोधहीन महापुरुष अपनी पत्नी के साथ तत्काल श्रीरंगम की ओर चल पड़े। उन्होंने रामानुज के लिए प्रतीक्षा नहीं की, क्योंकि श्रीरंगनाथ के पादपद्मों का स्मरण करते ही उन्हे सब कुछ विस्मृत हो गया था।

दीक्षित होने के बाद से रामानुज का मानसिक कष्ट लुप्त हो गया था। वे यज्ञ, अंकन, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मंत्र तथा दास्यनाम – इन पाँच संस्कारों द्वारा संस्कृत होकर अपने को धन्य मानते थे। महापूर्ण की कृपा से उन्हें परम शान्ति मिल गयी थी, अत: उनके समान जगत् में और किसको वे अपना हितकारी मानते? यह बात उन्हें भलीभाँति हृदयंगम हो गयी थी और इस कारण वे उन्हे साक्षात् नारायण ही मानते थे। उनकी गुरुभक्ति अतुलनीय थी। गुरु का प्रसाद ग्रहण किये बिना वे कभी भोजन नहीं करते थे। शय्या से उठते ही वे सर्वप्रथम गुरुदेव के पादपद्मों में साष्टांग प्रणाम करते थे। फिर प्रात:कृत्य समाप्त करने के बाद वे उन्हीं महात्मा के चरणों में बैठकर तमिल प्रबन्धमाला का अध्ययन करते थे। छह महीनों के भीतर ही वे निम्नलिखित प्रबन्धों का अध्ययन पूरा कर चुके थे – पोइगे रचित १०० पद, भूत रचित १०० पद, पे रचित १०० पद, पेरिय आलवार द्वारा रचित ४७३ पर, आण्डाल के १४३ पद, कुलशेखर के १४५ पद, तिरुमलिशै के २१६ पद, तोण्डरदिपोण्डि के ५५ पद, तिरुप्पन के १० पद, मधुर कवि के ११ पद, तिरुमंगै के १३६० पद और नम्मालवार के १२९६ पद। उन्होंने महापूर्ण से कुल मिलाकर लगभग चार हजार सुमधुर भक्तिरस-पूर्ण सन्ताप-नाशक परम पवित्र श्लोकों का अध्ययन किया था। यह सम्पूर्ण वाङ्मय दिव्य प्रबन्ध के नाम से प्रसिद्ध है।

उस दिन उन्होंने तिरुवइमोड़ि का पाठ समाप्त किया था। अत: गुरुदक्षिणा देने के लिए वे बाजार में जाकर फल, फूल, ताम्बूल, नये वस्त्र आदि खरीद लाये थे। आज वे गुरु-दम्पति की षोडशोपचार से पूजा करेंगे – इसी संकल्प के साथ वे घर लौटे थे। पर गुरुगृह में प्रविष्ट होकर उन्होंने देखा कि वहाँ कोई नहीं है। उन्होंने इधर-उधर घूमकर देखा, परन्तु उनका कोई भी सुराग नहीं मिला। एक पड़ोसी से पूछने पर पता चला कि महापूर्ण अपनी पत्नी के साथ श्रीरंगम चले गये हैं। उनके सहसा इस प्रकार चले जाने का कारण जानने की इच्छा से वे अपनी पत्नी के पास गये। पूछने पर उसने बताया –

"आज सुबह कुँए से जल लाने गयी थी, तो वहाँ तुम्हारी गुरुपत्नी के साथ मेरा झगड़ा हो गया। मैंने कोई विशेष कठोर बात नहीं कही, परन्तु उसी पर महापुरुष को इतना क्रोध आया कि वे अपने पत्नी के साथ यह स्थान छोड़कर चले गये। सुना था कि साधु होने पर आदमी क्रोध त्याग देता है, परन्तु ये तो एक नये ही प्रकार के साधु हैं। तुम्हारे साधु के चरणों में कोटि कोटि नमस्कार!"

यह सुनकर रामानुज अपने क्रोध का संवरण नहीं कर सके। वे बोले, "अरी पापिनी, तेरा मुख देखने से भी महापाप होता है।" इतना कहकर वे फल, ताम्बूल, वस्त्र आदि जो कुछ भी लाये थे, सब लेकर श्री वरदराज की अर्चना करने उनके मन्दिर की ओर चल पड़े।

रामानुज के जाने के थोड़ी देर बाद एक दुबले-पतले भूख से पीड़ित ब्राह्मण ने द्वार पर आकर गृहिणी से थोड़े-से अन्न के लिए याचना की। एक ओर तो जमाम्बा पति के कटु वाक्य से दग्ध हो रही थी और दूसरी ओर चूल्हे के ताप से उसके पूरे शरीर पर पसीना आ गया था, अत: भिक्षुक की प्रार्थना उसके कानों में वज्रध्वनि-सी प्रतीत हुई। क्रोधावेशित नेत्रों के साथ वह भीतर से ही उच्च स्वर में बोली, "जाओ, जाओ, और कहीं जाओ। यहाँ तुम्हें कौन खाने को देगा?"

ब्राह्मण दुखी हृदय से अपने भाग्य को कोसते हुए धीरे धीरे वरदराज के मन्दिर की ओर चले गये। रास्ते में मन्दिर से लौटते रामानुज के साथ उनकी भेंट हुई। उन्होंने ब्राह्मण की क्षीण काया देखकर पूछा, "विप्रदेव, लगता है आज आपका भोजन नहीं हुआ।" ब्राह्मण ने कहा, "मैं आपके ही घर अतिथि होने को गया था, परन्तु आपकी पत्नी द्वारा मुझे अन्न देने में अनिच्छा व्यक्त किये जाने के कारण मैं विफल-मनोरथ होकर लौट रहा हूँ।"

रामानुज बोले, "नहीं, आपको लौटना नहीं होगा। आप कृपया मेरे साथ दुकान में चलें। आपके हाथ में मैं एक पत्र, हल्दी, फल, ताम्बूल तथा एक नया वस्त्र दूँगा। आप इन्हें ले जाकर मेरी पत्नी को देकर कहियेगा कि आप उसके मायके से आ रहे हैं। इससे वह आपको बड़े यत्नपूर्वक भोजन करायेगी।" इतना कहकर उन्होंने उपरोक्त वस्तुएँ दुकान से खरीदकर ब्राह्मण के हाथों में दे दीं और अपने ससुर के हस्ताक्षर के साथ एक पत्र लिख दिया, जो इस प्रकार था –

"प्रिय पुत्र, मेरी दूसरी कन्या का विवाह शीघ्र ही सम्पन्न होनेवाला है। अत: इस व्यक्ति के साथ जमाम्बा को मेरे घर भेज देना। यदि कार्य की बाध्यता न हो, तो तुम्हारे भी आने पर मुझे असीम प्रसन्नता होगी। जमाम्बा के न आने पर मुझे बड़ी कठिनाई होगी, क्योंकि अनेक सगे-सम्बन्धियों के आने पर तुम्हारी सास के लिए अकेले ही उनकी देखभाल कर पाना बड़ा मुश्किल होगा।"

इस पत्र के साथ उन्होंने ब्राह्मण को अपनी पत्नी के पास भेज दिया। विप्र ने वहाँ जाकर वे सारी वस्तुएँ तथा पत्र देते हुए कहा, "आपके पिताजी ने मुझे भेजा है।" जमाम्बा आनन्द से अभिभूत हो उठी और उसने बड़े आदरपूर्वक विप्र के स्नानार्थ जल ला दिया। इसी बीच रामानुज भी घर लौटे। जमाम्बा ने अत्यन्त विनयपूर्वक पत्र को रामानुज को हाथों में देते हुए कहा, "पिताजी ने तुम्हारे लिए यह पत्र भेजा है।" रामानुज ने उसे पढ़कर सुनाया और बोले, "मुझे कुछ जरूरी कार्य है, जाने से बड़ी हानि होगी; अत: आहार आदि करके तुम्हीं इन विप्र के साथ मायके चली जाओ। कार्य समाप्त होने पर बाद में मैं भी आने की चेष्टा करूँगा। सास-ससुर जी के चरणों में मेरा प्रणाम सूचित करना।" जमाम्बा ने स्वीकृति दी।

भोजन के पश्चात् जमाम्बा ने पति के चरणों में प्रणाम करने के बाद विप्र के साथ मायके की ओर प्रस्थान किया। रामानुज भी घर से निकलकर वरदराज के मन्दिर की ओर चल पड़े। मार्ग में जाते जाते रामानुज स्वगत में कहने लगे, "बड़ी कठिनाई से इस राक्षसी के हाथ से छुटकारा मिला है। हे नारायण, इस दास को अपने पादपद्मों में स्थान प्रदान करो।"

थोड़ी देर बाद वे हस्तिगिरिपति वरदराज के सम्मुख पहुँचकर साष्टांग प्रणत हुए और बोले, "हे नाथ, आज से मैं सर्वतोभावेन तुम्हारा हुआ। मुझे स्वीकार करो।" यह कहकर उन्होंने गैरिक वस्त्र तथा दण्ड लिया और वरदराज के पादपद्मों का स्पर्श कराने के बाद वे मन्दिर के सम्मुख स्थित अनन्त सरोवर के किनारे चले गये। स्नानोपरान्त यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित करके उसमें उन्होंने वित्तैषणा, दारैषणा आदि सभी एषणाओं की आहुति दे दी। उसी समय श्री कांचिपूर्ण ने वरदराज के आवेश में उन्हें 'यतिराज' कहकर सम्बोधित किया। इस प्रकार उन्होंने सर्वप्रकार की एषणाओं को दग्धकर मन-वाणी व काया को सदा वश में रखने के लिए त्रिदण्ड ग्रहण किया। अरुण-वसनधारी यतिराज उस समय नवोदित सूर्य के समान प्रभायुक्त हुए थे।

❖ (क्रमश:) ❖

प्राचीन भारतीय इतिहास पर नवीन आलोक (२)

डॉ. नवरत्न राजाराम

(आज पुरातत्त्व, खगोल, प्राचीन गणित, उपग्रह छायाचित्रण आदि में हुई नई खोजें बताती हैं कि सिन्धु से गंगा तक फैला मैदान इस आद्य सभ्यता की क्रीड़ाभूमि थी और यहाँ वैदिक संस्कृति की जड़ें ई. पू. ७००० के भी पहले से हैं। प्रस्तुत लेख अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के सितम्बर से नवम्बर १९९६ के अंकों में प्रकाशित हुआ था, जिसका अनुवाद रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी राजेन्द्रानन्द ने किया है। – सं.)

आर्यों द्वारा आक्रमण

भारतीय इतिहास नहीं, बल्कि यूरोप की राजनीति

जैसा कि पिछले अंक में बताया जा चुका है, पुरातत्त्व-विज्ञान का निर्णय स्पष्ट तथा भ्रमरहित है। ऋग्वेद में उस काल के भारत का वर्णन है, जब सरस्वती नदी सूखी नहीं थी और एक समृद्ध नदी के रूप में जीवन-स्रोत थी। दस लाख वर्ग कि.मी. से भी अधिक क्षेत्र में फैली जिस विशाल सभ्यता को 'सिन्धु-घाटी की सभ्यता' का नाम दिया है, वह वास्तव में वैदिक सभ्यता की ही निरन्तरता थी। दक्षिण एशियाई अध्ययन के विवरणों में अमेरिका के पुरातत्त्वविद् जिम शेफर के इस सप्रसिद्ध उद्धरण में इस परिदृश्य को ठीक ठीक सारबद्ध किया है – "वर्तमान पुरातात्त्विक सामग्री प्राक् या आदि-ऐतिहासिक कालों में कभी भी आर्यों या यूरोपियनों द्वारा आक्रमण के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करती। बल्कि प्रागैतिहासिक से ऐतिहासिक कालों तक स्थानीय सांस्कृतिक परिवर्तनों की शृंखला के पुरातात्त्विक प्रमाण दिए जा सकते हैं।"

ये खोजें भारतीय साहित्य में पाई जानेवाली कुछ निर्णायक घटनाओं की परम्परागत तिथियों, यथा महाभारत युद्ध के ई.पू. ३१०२ में होने का समर्थन करती है। इनमें से कुछ खोजें तो निःसन्देह बिल्कुल नई हैं। इतिहास की पुस्तकें इन खोजों से अवगत हों – ऐसा समझना यथार्थपरक नहीं होगा। परन्तु दुर्भाग्यवश प्रभावशाली भारतीय इतिहासज्ञ तथा शिक्षाविद् सभी संशोधनों में बाधा डालते हैं और नस्लवाद से उपजे आर्यों द्वारा आक्रमण के सिद्धान्त को ही चलाते हैं। यद्यपि इन दिनों आर्य-द्रविड़ विभाजन को भाषाई तथ्य के रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति है, पर जैसा कि हम शीघ्र ही देखेंगे, इसके मूल में निश्चय ही रंगभेद की नीति है। 'जर्मनों ने इसकी खोज की और अंग्रेजों ने इसका उपयोग किया' – ऐसा कहना शायद अति सरलीकरण तो होगा, पर ज्यादा नहीं। इसका ठीक-ठीक कारण तो उस भारतीय शैक्षिक अधिकारी-वर्ग को ज्ञात होगा, जिसने लोगों को नीचा दिखाने तथा विभाजित करनेवाली इस घिसी-पिटी कपोल कल्पना को जारी रखा है। विज्ञान या भारतीय अभिलेख इसका समर्थन नहीं करते।

पहले तो हम आर्य शब्द के ही अर्थ पर विचार करेंगे। हिटलर तथा नाजी अत्याचारों के बाद से अनेक लोग, विशेषकर यूरोपवासी स्वभाविकतया इस शब्द की याद दिलाए जाने से सकुचाते हैं। परन्तु यह अपराध तो यूरोप का ही था, भारतीयों का इसमें कोई हाथ नहीं था। असली आर्य तो ऐसे अपराध से दूर का रिश्ता भी न रखते हुए हजारों वर्षों से भारतवर्ष में रहते आए हैं। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि विदेशी कहलाए जानेवाले आर्यों द्वारा भारत पर आक्रमण तथा विद्यमान हड़प्पा-सभ्यता को नष्ट करने के बारे में जो विचार है, वह आधुनिक यूरोपियनों का है, जिसे विज्ञान या भारतीय पुरातत्त्व से जरा भी समर्थन नहीं मिलता। ठीक ऐसा ही हाल आर्यों को नस्ल माननेवाली धारणा का है, क्योंकि इसे भी भारतीय साहित्य या परम्परा का कोई सहारा नहीं मिलता। संस्कृत में 'आर्य' शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ – जाति या नस्ल कदापि नहीं। वास्तव में अमरकोश नामक संस्कृत के प्रसिद्ध प्रामाणिक शब्दकोष में आर्य की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है –

महाकुल-कुलीनार्य-सभ्य-सज्जन-साधवः। (२/३)

– अर्थात् आर्य वह है जो कुल का हो; नम्र आचार-व्यवहार वाला, अच्छे स्वभाव और नेक चाल-चलन वाला हो।

और महान् काव्य रामायण तो राम की प्रशंसा एक ऐसे 'आर्य' के रूप में करता है, जिन्होंने 'सभी की समानता के लिए कार्य किया तथा जो सबके प्रिय थे।' ऋग्वेद में भी आर्य शब्द का छह बार प्रयोग हुआ तो है, किन्तु नस्ल के लिए नहीं। अतः भारतीयों को आर्य शब्द से लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। यह तो एक महान् सभ्यता का सृजन करने-वालों की एक सांस्कृतिक उपाधि है। यदि यूरोपियनों को यह शब्द अपनाने में लज्जा का बोध होता है, तो उनकी यह समस्या उन्हीं की नृशंसता से उत्पन्न हुई है।

यदि हमें यूरोपियनों द्वारा 'आर्य' शब्द का नस्लवादी अर्थ लगाकर उसका दुरुपयोग करने तथा आर्यों द्वारा आक्रमण के सिद्धान्त के आविष्कार के बारे में कुछ समझना है, तो १८वीं तथा १९वीं शताब्दी के यूरोप, विशेषकर जर्मनी की अवस्था पर विचार करना आवश्यक है। यह पूरा विषय यूरोप के सामी-विरोधी (Anti-Semitism) दुर्भाव से उपजा है। हाल ही में पोलियाकोव, शेफर तथा अन्य विद्वानों द्वारा किये शोधों से सिद्ध हुआ है कि आर्यों को आततयी नस्ल ठहराने का विचार १८वीं तथा १९वीं सदी के यूरोपियन ईसाइयों से जोड़ा जा सकता है, क्योंकि वे अपने को ऐसी पहचान देना चाहते थे, जो यहूदी धर्म के दूषण से मुक्त हो। जैसा कि सर्वविदित है

कि बाइबिल में पुराना धर्मनियम और नया धर्मनियम नाम से दो पुस्तके हैं । पुराने नियम में मनुष्य का परम्परागत इतिहास है । नि:सन्देह यह यहूदियों की कृति है । यहूदी धर्म के बिना ईसाई धर्म नही हो सकता । परन्तु हाल ही में ईसाई धर्म अपनी उत्पत्ति को यहूदी धर्म से होने की बात को नकारने में असमर्थ होने के बावजूद प्रबल सामी-विरोधी रहा हैं ।

स्वयं को इस यहूदी परम्परा से मुक्त करने के निमित्त यूरोप के ईसाई बुद्धिवादियों ने पूर्व यानी एशिया की ओर दृष्टि फेरी और वहाँ उन्होंने भारत और चीन की दो प्राचीन सभ्यताओं की ओर ध्यान दिया । पूर्वजों के रूप में उन्हें चीनियों की अपेक्षा भारतीय बेहतर लगे । अत: वे आर्य बन गए । पर इस आर्य कुल-परम्परा में सम्पूर्ण मानवजाति को नहीं लिया गया, यह उपाधि केवल गोरे नस्ल के लोगों को ही दी गई, जो एशिया के पर्वतो से नीचे उतरकर बाद में ईसाई बने और औपनिवेशिक यूरोप में बस गए । कहते हैं कि वोल्टायर जैसे बुद्धिजीवी का भी विश्वास था कि 'खगोलशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र तथा पुनर्जन्मवाद आदि सब कुछ हमें गंगा के किनारे से मिला है ।'

१८वीं तथा १९वीं सदी के यूरोप पर जातिवाद के असाधारण प्रभाव की कल्पना भी आज के विद्यार्थी के लिए कठिन होगी । अनेक शिक्षित लोग तो यही समझते थे कि आँखों के रंग, नाक की लम्बाई जैसे शारीरिक लक्षणों के आधार पर मनुष्य के स्वभाव के बारे में भविष्यवाणी सम्भव है । यह प्रभाव तो पूर्वग्रह की भी हद पार करके धर्म-सिद्धान्त के रूप में आदर्शवाद के समकक्ष हो गया । वैज्ञानिक कसौटी पर इसके खोखलेपन तथा इसके प्रभाव की तुलना इस सदी में केवल मार्क्सवाद, विशेषकर मार्क्स के अर्थशास्त्र से की जा सकती है । मार्क्स के अर्थशास्त्र की ही भाँति इन नस्लवादी सिद्धान्तों का भी पूरी तौर से भण्डाफोड़ हो चुका है । आण्विक आनुवांशिकी के आविर्भाव ने इन्हें पूरी तरह से झूठा सिद्ध कर दिया है ।

यह 'आर्य' कथा गढ़कर प्रबुद्ध युग के आधुनिक यूरोपियनों ने स्वयं को यहूदी विरासत से अलग करने का प्रयास किया । यह बड़ी ही रोचक बात है कि आर्यो द्वारा यूरोप पर आक्रमण तथा औपनिवेशीकरण का यही सिद्धान्त बाद में भारत पर लागू करके आर्यो द्वारा भारत पर आक्रमण का सिद्धान्त गढ़ा गया । वस्तुत: यह विचार तत्कालीन यूरोप द्वारा एशिया तथा अफ्रीका को उपनिवेश बनाने के अपने ही अनुभव का भूतकाल में दूरवर्ती प्रक्षेपण मात्र था । आर्य के स्थान पर यूरोपीय तथा द्रविड़ के स्थान पर एशिया या अफ्रीकी के उपयोग से हमें १८वीं तथा १९वीं सदी म हुए असंख्य औपनिवेशिक युद्धों का विवरण मिलेगा । इस मत के अनुसार आर्य लोग उपनिवेशक यूरोपियों की प्रतिकृतियाँ हैं । यदि इस दृष्टिकोण से देखा जाय, तो यह सिद्धान्त कोई विशेष मौलिक नहीं लगता ।

इस मत का सर्वाधिक सशक्त प्रभाव जर्मनों की मानसिकता पर पड़ा । उन्नीसवीं सदी के यूरोप का सबसे जोरदार राजनैतिक आन्दोलन जर्मन राष्ट्रवाद था । आर्य नस्ल के विचार ने जर्मन राष्ट्रवाद के आन्दोलन में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । अभी तो हम जर्मनी को एक समृद्ध तथा शक्तिशाली राष्ट्र मानते हैं, पर १९वीं सदी के शुरू में जर्मनीवासी अशक्त तथा विभाजित थे । तब जर्मन राष्ट्र नाम की बात ही नहीं थी, बल्कि यूरोप का मानचित्र ऐसी बहुत-सी छोटी-मोटी जर्मन जागीरों तथा ड्यूकों की रियासतों से चिह्नित था, जो हमेशा आस्ट्रिया तथा फ्रांस रूपी पड़ोसी महाशक्तियों के वश में रहती आई थी । तीस वर्षीय युद्ध से लेकर नेपोलियन के विजय अभियानों तक, इन महाशक्तियों ने जर्मनी की इन छोटी रियासतों में से होकर, वहाँ के लोगों या शासकों के सम्मान की उपेक्षा करते हुए, कई बार अपनी सेनाओं के साथ कूच किया था । जर्मनी के लोगों में फूट डाले रखना फ्रांस के विशेष हित मे था, बाद में इसी चाल का प्रयोग अंग्रेजों ने भारत के साथ किया ।

उस समय हर जर्मन यही विश्वास करता था कि सत्ता की बड़ी बड़ी प्रतिस्पर्धाओं में स्वयं उसका तथा उसके शासकों का स्थान मात्र कठपुतली जैसा है । इस पराधीनता तथा दुर्बलता के वातावरण में जर्मनी के बुद्धिजीवियों द्वारा भारत जैसे प्राचीन स्वप्निल देश की संस्कृति में सांत्वना पाने की चेष्टा स्वाभाविक ही है । हम में से कुछ लोगों को याद होगा कि वियतनाम-युद्ध तथा शीतयुद्ध के काल में ठीक ऐसी ही भावनाएँ अमेरिकियों में आयी थीं, जब उनमें से अनेक पूर्वी देशों के धर्म तथा दर्शनों में रुचि लेने लगे थे । ये जर्मन बुद्धिजीवी भी उन्हीं की भाँति दमन का अत्याचार सह रहे भारतवासियों के साथ रिश्ते का बोध करने लगे । हमबोल्ट, शापेनहांवर, फ्रेड्रिक विल्हेम शेगल तथा तत्कालीन जर्मनी के और भी अनेकों महान् बुद्धिजीवी, भारतीय साहित्य तथा दर्शन के अध्येता थे । जर्मन राष्ट्रवाद के मुख्य प्रभावकारी तथा उस युग में सबसे बड़ा दार्शनिक हेगेल तो बड़े चाव से कहता था कि दर्शन तथा साहित्य में जर्मन लोग भारतीय मनीषियों के चेले हैं । हम्बोल्ट ने तो १८२७ ई. में यहाँ तक घोषित कर दिया – "संसार के पास व्यक्त करने के लिए यदि कुछ सर्वोत्कृष्ट तथा गूढ़तम है तो वह शायद भगवद्गीता ही है ।" राष्ट्रवाद की लहर उमड़ने का अनुभव करते समय जर्मनी में ऐसा ही माहौल था ।

भारत-सम्बन्धी विषयों में शामिल होना, जहाँ जर्मनों के लिए भावुकता तथा कल्पना-प्रेरित था; वहीं अंग्रेजों की रुचि, जोन्स तथा कोलेब्रुक जैसे संस्कृत तथा इसके साहित्य के प्रशंसक विद्वानों के होते हुए भी, पूरी तौर से व्यावहारिक थी । १८५७ के विद्रोह से काफी पूर्व ही मान लिया गया था कि भारतीय सहयोगियों की बड़ी संख्या के बिना भारत में अंग्रेजी राज कायम नहीं रखा जा सकता । इस सच्चाई को मानते हुए शिक्षा-मण्डल के अध्यक्ष थॉमस बॅबिंगटॅन मैकाले जैसे प्रभावी

व्यक्तियों ने अंग्रेजी प्रणाली के अनुरूप शिक्षा-पद्धति का ऐसा ढाँचा बनाना चाहा, जो हिन्दू परम्परा को भी नष्ट कर सके। स्वयं धर्मप्रचारक न होते हुए भी मैकाले एक ऐसे अति धार्मिक परिवार के थे, जो प्रेसबिटेरियन ईसाई धर्म के पक्के अनुयायी थे। उनके पिता प्रेसबिटेरियन पुरोहित तथा माता क्वेकर थीं। उनका विश्वास था कि हिन्दुओं का ईसाई धर्म में धर्मान्तरण ही भारत पर शासन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान है। उनका लक्ष्य अंग्रेजी पढ़ा-लिखा एक ऐसा वर्ग तैयार करना था, जो अपनी परम्परा को छोड़कर अंग्रेजों का सहायक बने। १८३६ ई. में शिक्षा-मण्डल के अध्यक्ष के रूप में भारत में कार्यरत रहते हुए उन्होंने अपने पिता को उत्साहपूर्वक लिखा – "हमारे अंग्रेजी विद्यालय खूब उन्नति कर रहे हैं। हिन्दुओं पर इस शिक्षा का प्रभाव अद्भुत है। ...मेरा विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा-नीतियों के अनुसार कार्य हुआ तो अब से तीस साल बाद बंगाल के समान्य वर्ग में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा। इस योजना को धर्मान्तरण के किसी भी प्रयत्नों के बिना, धार्मिक स्वतन्त्रता से थोड़ी-सी भी छेड़खानी किये बिना ज्ञान तथा मनन की सहज प्रक्रिया द्वारा लागू किया जाएगा।"

अत: धर्मान्तरण तथा उपनिवेशवाद की प्रक्रिया को साथ-साथ चलना था। यहाँ मैकाले के विश्वास की मुख्य बात यह है कि हिन्दुओं, विशेषकर ब्राह्मणों को अपने 'ज्ञान तथा मनन' के युगों पुराने धर्म को ईसाई धर्म के पक्ष में छोड़ने के लिए प्रेरित करना था। उनकी योजना थी कि हिन्दू बुद्धिजीवियों की शक्ति को उन्हीं के विरुद्ध मोड़कर उनकी अपनी परम्पराओं की जड़ें काटने में लगाया जाय। उनका षड्यंत्र यह था कि शिक्षा के द्वारा हिन्दुओं को ईसाई बनाकर उन्हें अपना सहयोगी बनाया जाय। उनकी गम्भीरता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि पन्द्रह वर्षों तक अपनी योजना के लिए समुचित धन-जन न मिलने पर भी वे इस योजना पर डटे रहे।

अपनी इस योजना के तहत वे एक ऐसे व्यक्ति की खोज में थे, जो हिन्दू धर्मशास्त्रों – विशेषकर वेदों का अनुवाद तथा व्याख्या ऐसे ढंग से करे कि नवशिक्षित वर्ग उनकी तुलना में बाइबिल को उत्कृष्ट समझकर उसी को अपना ले। इंग्लैंड लौटकर काफी प्रयत्न के बाद उन्हें फ्रैडरिक मैक्समूलर नामक एक प्रतिभाशाली, पर निर्धन युवा जर्मन वैदिक विद्वान् मिले, जो यह दु:साहसपूर्ण कार्य करने को राजी थे। मैक्समूलर से ऋग्वेद का अनुवाद कराने को धनप्राप्ति हेतु मैकाले ने ईस्ट-इंडिया कम्पनी पर अपने प्रभाव का प्रयोग किया। प्रबल जर्मन राष्ट्रवादी होते हुए भी ईसाई धर्म के लिए मैक्समूलर ने अंग्रेजी सरकार की ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के अधीन कार्य स्वीकार कर लिया। उन्हे भी अपनी महत्वाकांक्षी योजनाओ के लिए किसी संरक्षक की बड़ी जरूरत थी, जो आखिर मिल ही गया था। यह उनके 'पूर्व के पवित्र ग्रन्थ' रूपी महान् कार्य की शुरुआत थी। परन्तु भारतवासियों के ईसाईकरण की मैक्समूलर की प्रतिबद्धता में कोई सन्देह नहीं हो सकता। १८६६ ई. में उन्होंने अपनी पत्नी को लिखा – "यही (ऋग्वेद) उनके धर्म का मूल है। मेरा पक्का विश्वास है कि पिछले तीन हजार वर्षों में जो कुछ पनपा है, उसे जड़ से उखाड़ फेंकने का एकमात्र उपाय है – उन्हें उनका मूल खोलकर दिखा देना।"

दो वर्ष बाद उन्होंने तत्कालीन भारत के राष्ट्रसचिव ड्यूक ऑफ अर्जिल को भी लिखा – "भारत के प्राचीन धर्म का सर्वनाश हो चुका है। और यदि ईसाई धर्म इसका स्थान नहीं लेता, तो इसमें दोष किसका होगा?"

अत: तथ्य स्पष्ट है – जैसे इस सदी में लॉरेन्स ने अरब के साथ किया, वैसे ही विद्वान् होकर भी मैक्समूलर अंग्रेज सरकार के ऐसे प्रतिनिधि थे, जिन्हें औपनिवेशिक स्वार्थों को बढ़ावा देने के लिए धन मिलता था। पर इंग्लैण्ड में कार्यरत रहते हुए भी वे प्रबल जर्मन राष्ट्रवादी रहे। इससे यह बात समझने में मदद मिलती है कि वेदों व संस्कृत का सर्वमान्य विद्वान् होकर भी, जर्मन राष्ट्रवादियों के मनपसन्द 'आर्य नस्ल' तथा 'आर्य राष्ट्र' – इन दो नारों को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा का प्रयोग किया। उनका यह विचार हमारी इस २०वीं सदी में हिटलर के उदय तथा नाजीवाद की विभीषिकाओं के रूप में पराकाष्ठा पर पहुँचा। यद्यपि मैक्समूलर को इसके लिए दोष देना अनुचित होगा, परन्तु वेदों तथा संस्कृत के प्रतिष्ठित विद्वान् होने के नाते, क्षणिक आवेश के चलते जान-बूझकर एक शब्द का दुरुपयोग करने के लिए वे अवश्य ही गम्भीर रूप से उत्तरदायी हैं। वे अपने या किसी भी युग के सबसे निकृष्ट द्वेष को धर्मग्रन्थ-सम्मत करार देने के दोषी थे। यह मानो नाजियों के सामीवाद-विरोध के लिए 'ईसाई' शब्द का प्रयोग करने जैसा हुआ। इस दुरुपयोग के लिए हर कोई दोषी नहीं था। विल्हेम शेगल जैसे जर्मन राष्ट्रवादियों ने भी 'आर्य' शब्द का प्रयोग हमेशा गौरवपूर्ण अर्थ मे ही किया है, नस्ल के सन्दर्भ में कभी नहीं। जान-बूझकर शब्द का दुरुपयोग, किसी अज्ञानी को तो क्षम्य हो सकता है, पर मैक्समूलर जैसे महान् तथा प्रतिष्ठित विद्वान् को तो कतई नहीं हो सकता।

अब इस तथ्य पर काफी जोर दिया जाने लगा है कि बाद में मैक्समूलर ने आर्य-सिद्धान्त को एक भाषाई धारणा बताते हुए इसके नस्लवादी दृष्टिकोण का खण्डन किया था। परन्तु इसका सम्बन्ध भी विज्ञान से अधिक तत्कालीन यूरोप की राजनीति के बदलते माहौल से था। ब्रिटेन बढ़ती हुई चिन्ता के साथ जर्मन राष्ट्रवाद की प्रगति पर नजर रखे हुए था। जब १८७१ ई. में प्रूसिया ने फ्रांस को बुरी तरह परास्त कर दिया, तो कुछ क्षेत्रों में वह उन्माद के रूप में फट पड़ा। इसके फल-स्वरूप प्रूसिया के झण्डे तले जर्मनी एकीकृत हो गया। शीघ्र ही जर्मनी यूरोप में सर्वाधिक घनी आबादीवाला तथा सर्वाधिक

शक्तिशाली देश बनकर ब्रिटिश महत्त्वाकांक्षाओं के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गया । ब्रिटिश भारतीय अधिकारियों में यह विश्वास व्यापक रूप से घर कर गया कि भारत तथा संस्कृत के अध्ययन ने जर्मन-एकीकरण में काफी योग दिया है । कलकत्ता विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उप-कुलपति तथा वाइसराय के सलाहकार सॅर हेनरी मैन ने अनेक अंग्रेजों की मनोभावना को प्रतिध्वनित करते हुए कहा – "संस्कृत से एक राष्ट्र का जन्म हो गया है ।"

वैसे तो यह साफ तौर पर अतिशयोक्ति थी, परन्तु तब भी १८५७ की क्रान्ति के प्रभावों से लड़खड़ा रहे अंग्रेजों को भारत में जर्मन-एकीकरण के हौवे की पुनरावृत्ति बड़ी स्वाभाविक लग रही थी । तथापि मैक्समूलर ने अपने को बुरी तरह फँसे पाया । यद्यपि वे जर्मनी के थे, तथापि 'पूर्व के पवित्र ग्रन्थ' तथा वेदों पर किये जा रहे अपने जीवन के मुख्य कार्य में रत रहते हुए इंग्लैड में निश्चिन्त भाव से स्थापित हो चुके थे । जर्मन राष्ट्रवाद तथा आर्यजाति-विषयक उनके बचकाने सिद्धान्त अब उन्हे महँगे पड़ सकते थे । अपनी जर्मन राष्ट्रवादी की पृष्टभूमि के साथ वे विक्टोरिया-युगीन इंग्लैंड में ऐसा कुछ भी नही कर सकते थे, जो जर्मन आदर्शवाद का समर्थन करता-सा दिखे । अब यदि इंग्लैंड में रहना हो, तो उनके पास अपने भूतपूर्व सिद्धान्तों का खण्डन करने के सिवा और कोई चारा न था । अब उन्हें स्वयं को जर्मन राष्ट्रवादी सिद्धान्तों तथा आदर्शवाद से दूर रखने के लिए कुछ करना था ।

उन्होंने स्वयं को जिस धर्मसंकट में पाया, उससे छुटकारा पाने हेतु उन्होंने अपने पुराने 'आर्यराष्ट्र'-सिद्धान्त के विपरीत जल्दबाजी में आर्यों द्वारा आक्रमण का नया 'भाषाई सिद्धान्त' प्रस्तुत किया । जर्मन राष्ट्रवादियों के एक सदी पुराना सपना रूपायित होने अर्थात् जर्मन-एकीकरण वाले वर्ष १८७१ ई. में फ्रेड्रिक मैक्समूलर जर्मन अधिकृत फ्रांस में एक विश्वविद्यालय में गये और वहाँ नाटकीय ढंग से आर्य नस्ल सम्बन्धी जर्मन-सिद्धान्त की भर्त्सना की । जैसे वे अपने जीवन के प्रथम २० वर्ष आर्य-नस्ल विषयक के सिद्धान्त के समर्थक रह चुके थे, वैसे ही अपने जीवन के शेष ३० वर्ष वे इसके प्रबल विरोधी रहे । जो लोग पूरे इतिहास से परिचित है, उन्हें छोड़कर बाकी लोग उन्हें मुख्यतया उनकी परवर्ती भूमिका में ही जानते हैं ।

आइए, अब हम इस सुप्रसिद्ध सिद्धान्त पर नजर डालें । यूरोप में पहले इसे 'आर्यो के आक्रमण का सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता था, जिसका आविष्कार यूरोपियनों ने अपनी ईसाइयत को यहूदी परम्परा से मुक्त कराने के लिए किया था । अन्ततः इसने हिटलर और नाजीवाद को जन्म दिया । बाद में इस सिद्धान्त को भारत में स्थानान्तरित कर दिया गया, जहाँ यह संस्कृत तथा यूरोपीय भाषाओं क अध्ययन में उलझ गया । भारोपीय के रूप में यूरोपियन लोग आक्रमणकारी आर्य कहलाए और मूल निवासी द्रविड़ । इस सिद्धान्त को उपयोग म लाने हेतु अंग्रेजों ने मैक्समूलर को इसलिए किराए पर लिया, ताकि अनुवाद के बाद वेद बेहद घटिया दर्जे के लगने लगें और शिक्षित हिन्दुओं को ईसाई सहयोगियों में बदला जा सके । आर्य-नस्ल विषयक जर्मन विचार को धर्मग्रन्थ से समर्थन देकर मैक्समूलर ने वेदों के विद्वान् होने की अपनी प्रतिष्ठा का प्रयोग जर्मन-राष्ट्रवाद को तूल देने के लिए किया । जर्मन एकीकरण के बाद अंग्रेज जनता तथा राजनीतिज्ञ आशंकित होकर जर्मनविरोधी हो गए । ऐसा होने पर मैक्समूलर इंग्लैंड में अपनी स्थिति के बारे में चिन्तित तथा भयभीत हो उठे और अपने ही पुराने नस्लवादी सिद्धान्त की भर्त्सना कर इसे भाषाई सिद्धान्त का जामा पहनाकर चालबाजीपूर्वक अपनी जान बचाई । कोई जानना चाहेगा कि इस सारे घटनाक्रम में विज्ञान कहाँ था?

इस पर जरा भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि यूरोपियनों को ऐसा मनगढ़न्त परिदृश्य रचने की जरूरत थी, जो बारम्बार दुहराने से एक सिद्धान्त ही बन गया । इस प्रकार वे स्वयं को एक सांस्कृतिक पहचान देने की चेष्टा कर रहे थे । आज के यूरोपियनों की ही तरह अपने इतिहास के प्रति इतनी गहरी रुचि लेनेवाले उन लोगों की यह बात बिल्कुल स्वाभाविक लगती है । यह भी स्वाभाविक है कि इस सिद्धान्त को अंग्रेजो का समर्थन मिलना चाहिए था । आर्यों को भी उपनिवेशक होने का दावा जताना अंग्रेजो के लिए अपनी भूमिका को उचित ठहराने का यह बड़ा सुविधाजनक साधन था । परन्तु इतिहास के स्थान पर ऐसी परिकल्पना के प्रचार में 'संस्थागत' भारतीय इतिहासकारों की अड़ियल आसक्ति के बारे में क्या कहें? इस उपनिवेशवादी-मिशनरी आदर्शवाले भारतीय इतिहास को नयी कसौटी पर कसकर इसकी यथार्थवादी व्याख्या देने में असफल रहना आधुनिक भारतीय इतिहासकारों के लिए कोई विशेष सम्मान की बात नहीं है ।

परन्तु एक बार यदि हम बाइबिल सम्बन्धी अन्धविश्वासों, यूरोप की राजनीति तथा आजीविका की चिन्ता में पड़े मैक्समूलर जैसे व्यक्तियों को छोड़ दें, तो नए परीक्षण से हमें भारतीय इतिहास की, न केवल नयी व्याख्या मिलेगी, अपितु सभ्यता आरम्भ होने से पहले के प्राचीन संसार की खोजों के लिए एक झरोखा मिल जाएगा । यदि १९वीं सदी के पक्षपातों के बिना आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अवलोकन किया जाए, तो इससे सिन्धु से गंगा नदी तक की भूमि – प्राचीन सभ्यता के वास्तविक अधिष्ठान का मनोहर रूप सामने आएगा । इससे सभ्यता के चिर अपेक्षित ऐतिहासिक महत्त्व के प्रश्न का उत्तर भी मिलेगा – अर्थात् स्मरणातीत काल से ही भारत तथा श्रीलंका से लेकर इंग्लैंड व आयरलैंड तक के लोग एक दूसरे से स्पष्टतया सम्बद्ध भाषाएँ क्यों बोलते रहे हैं । अगले अंग में हम इसी पर चर्चा करेंगे ।

❖ (क्रमशः) ❖

एक विद्यार्थी के नाम पत्र

स्वामी पुरुषोत्तमानन्द

(पत्र के द्वारा एक व्यक्ति अपने विचार या सन्देश दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाता है । यहाँ एक पत्र दिया जा रहा है, जो एक विद्यार्थी को सम्बोधित करके लिखा गया था । यदि तुम ज्ञान तथा अध्ययन की पिपासा रखनेवाले एक सच्चे विद्यार्थी हो, तो यह पत्र तुम्हारे लिए अवश्य ही उपयोगी होगा । दिल्ली की श्रीमती निर्मल श्रीवास्तव ने, हमारे तरुण पाठकों के लिए इसका आंग्ल भाषा से हिन्दी रूपान्तरण किया है । – सं.)

प्रिय सोमशेखर,

तुम्हारा पत्र प्राप्त हुआ । मैं तुम्हारी बेवसी भलीभाँति समझ सकता हूँ ।

यह सच है कि ग्रामीण विद्यालय का छात्र होने के कारण तुम्हें कई असुविधाओं का सामना करना पड़ता है, परन्तु तुम्हें याद रखना चाहिए कि इसका तुम्हें कुछ लाभ भी है । शहरों और कस्बों में टेलीविजन, सिनेमा तथा होटलों ने तबाही मचा रखी है और ध्वनि-विस्तारकों के गर्जन से छात्रों की पढ़ाई में बाधा आती है । इसके विपरीत गाँव का शुद्ध और शान्त वातावरण उनकी पढ़ाई और एकाग्रता के लिए अत्युत्तम है । यद्यपि शहर के छात्रों को कई तरह की सुविधाएँ प्राप्त है, पर उनके हानिकारक मन-बहलावों में फँसने की आशंका भी काफी अधिक है । तुम्हें ज्ञात होगा कि कैसे अभिभावकों और अध्यापकों को इन छिपे हुए खतरों से निरन्तर सतर्क रहना पड़ता है और उन्हें बचाते रहना पड़ता है ।

अब तुम्हारी समस्या को लेते हैं – तुमने लिखा है कि अब तुम दसवी कक्षा में हो । पढ़ाई आरम्भ हो गई है, पर कई पाठ तुम्हारी समझ में नहीं आते । एक और विद्यार्थी ने लिखा है कि उसके शिक्षक ठीक ढंग से पढ़ाते नहीं । यह उसका दुर्भाग्य है; तुम भाग्यवान हो कि तुम्हें अच्छे अध्यापक मिले हैं।

खैर मैं कुछ सुझाव देता हूँ, आशा है कि इनसे तुम्हें पाठों को समझने और परीक्षा में सफल होने में सहायता मिलेगी ।

(१) पहली और प्रमुख सलाह यह है – तुम जैसे ही उठो, हाथ-मुँह धोकर भगवान तथा अपने माता-पिता को प्रणाम करो। तुम्हारी दिनचर्या इसी से शुरू होनी चाहिए । इसमें सन्देह मत करो कि परमात्मा के और बड़ों के आशीर्वाद से ही तुम्हारा उद्यम या प्रयास सफल होगा । तुम पूछ सकते हो कि जब उपयुक्त उद्यम से ही वांछित सफलता मिल सकती है, तो आशीर्वाद की जरूरत ही क्या है? तुम्हें जानना चाहिए कि ये आशीर्वाद ही तुम्हारी मन:स्थिति को काम करने की सही दिशा प्रदान करेंगे । सम्भव है कि बड़े होने तक तुम यह न समझ सको । फिलहाल तुम इन ज्ञानियों की बातों पर विश्वास करो । एक और रोचक तथ्य है कि तुम्हें उनसे आशीर्वाद माँगने की जरूरत नही, जब तुम श्रद्धापूर्वक परमात्मा तथा बड़ो के आगे झुकते हो, तो सहज भाव से ही उनके मन में आता है – 'तुम्हारा कल्याण हो' । यही परम्परा है ।

(२) अब मैं तुम्हें समय-तालिका का महत्त्व बताता हूँ । तुम्हें भलीभाँति पता है कि विद्यालय में प्रार्थना, कक्षाएँ तथा खेलकूद आदि सब कुछ निर्धारित समय पर ही होता है और इस दौरान अनेक पाठ पूरे हो जाते है । इसका रहस्य समय-सारणी ही है । फिर भी आज के विद्यार्थी स्कूल से घर आते हैं और पाठ दुहराने की जगह खेलकूद, टेलीविजन देखने, उपन्यास पढ़ने और घूमने में अपना समय बर्बाद करते हैं । जब परीक्षा पास आती है, तो वे सब कुछ इकट्ठे पढ़ना पड़ता है, इसलिए घबरा जाते हैं और उनकी दशा दयनीय हो जाती है । छात्र और विद्या के बीच ऐसा सम्बन्ध नहीं होना चाहिए । पढ़ाई की उपेक्षा करने-वाले विद्यार्थी कहलाने के योग्य नहीं, तो भी कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं, जो अपने माता-पिता या अध्यापकों के मार्ग-दर्शन में या स्वयं ही अनुशासित तथा ईमानदार होते हैं और अपनी दिनचर्या के अनुसार सहज भाव से अपने अध्ययन में अग्रसर होते हैं । तुम्हें भी यह प्रक्रिया सीख लेनी चाहिए । देखो कि स्कूल के बाद तुम्हारे पास कितना समय बचता है । इसके अलावा रविवार और अन्य खाली घण्टे भी तुम्हारे पास हैं । यदि तुम बुद्धिमत्तापूर्वक अपने समय के हर मिनट का उपयोग करो, तो तुम न केवल अपने पाठों को दुहरा सकोगे, बल्कि एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व का भी निर्माण कर सकोगे ।

समय-तालिका के अभाव में समय का सदुपयोग असम्भव है । यह समय-तालिका तुम कैसे बनाओगे? सर्वप्रथम तुम अपने सोने और जागने का समय निश्चित करो । यदि इनके समय में गड़बड़ी हुई, तो समय-तालिका व्यर्थ है । किशोर वय के कारण यह उचित होगा कि तुम रात को दस बजे सोकर प्रात: पाँच बजे उठ जाओ । रात की गाढ़ी नींद तुम्हारे मस्तिष्क को शान्त, स्थिर तथा दिन भर तरो-ताजा रखेगी, यदि तुम दिन के १७ घंटे का निपुणता से उपयोग करो, तो चमत्कार कर सकते हो और यदि तुम अपने शरीर और मस्तिष्क से पूरा काम लेते हो, तो तुम्हें निश्चित रूप से रात को गहरी नींद का भी आनन्द मिलेगा ।

प्रात: उठने और रात को सोने के बीच तुम्हें जो अपनी प्रार्थना, पढ़ाई तथा अन्य कार्यों के लिए समय मिलता है, उनके लिए तुम स्वयं ही अपनी समय-तालिका बनाओ या इस विषय मे तुम अपने अध्यापको की भी सहायता ले सकते हो ।

(३) स्नान के बाद दस मिनट से आधे घण्टे तक, जितना भी सम्भव हो, स्तोत्रपाठ, प्रार्थना तथा ध्यान के लिए निर्धारित रखो। यह स्वस्थ व सन्तुलित मस्तिष्क के लिए बड़ा उपयोगी है। सोने से पहले ईश्वर से इस प्रकार प्रार्थना करो – "हे प्रभो, आज का दिन मैंने आपकी कृपा से अच्छी प्रकार बिताया। फिर भी कुछ त्रुटियाँ रह गयी होंगी। मुझे अपनी त्रुटियों को जानने तथा सुधारने की शक्ति दो और मुझे आगे बढ़ने का मार्ग दिखाओ।" सच्चे हृदय से प्रार्थना करो, ईश्वर अवश्य तुम्हारी प्रार्थना का उत्तर देंगे। बस और क्या? तुम्हें दिन-पर-दिन अपना मन बलवान होता प्रतीत होगा।

(४) मैंने स्नान का जिक्र किया था। इस ओर कभी लापरवाही मत दिखाना। दिन में पसीना आता और सूखता रहता है; पर उसका लवण सूखकर हमारी त्वचा पर जमा हो जाता है और उस पर धूल भी पड़ती जाती है। यदि तुम अपने शरीर तथा बालों की ठीक सफाई नहीं करते, तो मन चंचल होगा और क्रमश: अपनी शक्ति खो बैठेगा। इससे तुम्हारी पढ़ने व पढ़े हुए को याद रखने की क्षमता को क्षति पहुँचेगी।

सुबह और शाम, दोनों समय स्नान की आदत डालना बेहतर है। ठण्ढे पानी से स्नान करना सर्वोत्तम है। यदि कठिन लगे, गुनगुने पानी का उपयोग करें, परन्तु गरम पानी का तो कभी नहीं। ठण्ढे पानी की आदत डालनी हो, तो इसे गर्मियों में शुरू करो। ठण्ढे पानी से नहाने के दो लाभ होंगे – पहला तो तुम्हारा शरीर व मस्तिष्क ताजा तथा क्रियाशील रहेगा और दूसरा इससे ब्रह्मचर्य-पालन में भी सहायता होगी।

(५) अब हम पुन: समय-सारणी की बात पर आते हैं। मेरा एक सुझाव है और वह यह कि तुम्हें विद्यालय में पढ़ाये जानेवाले पाठ घर से ही पढ़कर जाना चाहिए। यदि तुम ऐसा करो, तो तुम्हें शिक्षक द्वारा पढ़ाया गया पाठ भलीभाँति समझ में आयेगा। पाठ का वह भाग जो पहले समझ में नहीं आया था, अब समझ में आ जायेगा। अब शंकाएँ दूर हो जाने पर शाम को तुम घर में इस पाठ को दुहरा भी सकते हो। इसलिए स्कूल जाने से पहले तैयारी करो और घर लौटकर दुहराओ। यह प्रयोग तुम केवल तीन महीने ही करके देखो न, तुम्हें इसका परिणाम देखकर हैरानी होगी। यदि तुम इस प्रयोग को पूरे वर्ष धैर्य तथा दृढ़ संकल्प के साथ करो, तो न तो पाठ तुम्हें ऊबाऊ लगेंगे और न ही परीक्षा तुम्हें कष्टदायी लगेगी।

पर साथ ही तुम्हें समझ लेना होगा कि यदि तुम यह प्रयोग करने का संकल्प लेते हो, तो तुम्हें घूमने, टेलीविजन या मित्रों के साथ गप्पें मारने का समय नहीं मिलेगा। वार्षिक परीक्षा हो जाने तक तुम्हें व्रती के समान रहना होगा। वस्तुत: शिक्षा एक व्रत ही है, जिसे पूरा किया जाना है। अत: तुम जान लो कि तुमने एक व्रत लिया हुआ है। सच तो यह है कि शिक्षकगण विद्यादान करने और छात्रगण उसे ग्रहण करके गहन अध्ययन द्वारा आत्मसात् करने की शपथ से बँधे हैं। सुदृढ़ इच्छाशक्ति के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

(६) समय-तालिका पर एक बात और – दीवाली, बड़े दिनों आदि की लम्बी छुट्टियों के समय का उपयोग करने के लिए तुम्हें अपनी नियमित समय-तालिका के अतिरिक्त विशेष समय-तालिका भी बनानी होगी।

(७) अच्छा तो यह होगा कि घर के अन्य सदस्य भी तुम्हारी समय-तालिका को जानें, ताकि पढ़ाई के समय कोई बाधा न डाले या किसी अन्य काम में न लगाये। जब एक बार पढ़ने बैठो, तो एक घण्टे तक बिना उठे या खिड़की से झाँके, उसी में तल्लीन रहो। आरम्भ में यह कठिन लग सकता है, पर यदि तुम्हारा प्रयास जारी रहा, तो तुम्हारे शरीर-मन क्रमश: तुम्हारे वश में आ जायेंगे। घण्टे भर बाद अपने स्थान से उठकर थोड़ा-सा खुली हवा में घूमो, पानी पीओ और फिर पढ़ने बैठ जाओ। बीच बीच में पानी पीने से रक्त-संचार ठीक रहता है और मस्तिष्क भी सक्रिय रहता है।

(८) पढ़ते समय सम्भव है कि बीच में कोई कठिन शब्द आ जाय, अत: शब्दकोष सदा पास रखो। यदि तुम हर शब्द का उचित प्रयोग सीखो, तो भाषा पर तुम्हारा अधिकार बढ़ता जायेगा और तुम्हारी पढ़ाई अधिक लाभकारी होगी। शब्दार्थ समझ आने पर विषय भी स्पष्ट हो जाता है और तब स्वयं ही अधिकाधिक पढ़ने तथा आत्मसात् करने की इच्छा होती है। इस तरह निरन्तर अपने पाठ दुहराते रहो – पढ़ो और समझो, फिर समझो और पढ़ो। यही पाठ पर अधिकार करने का रहस्य है। अनेक विद्यार्थी स्मरण-शक्ति बढ़ाने की कला जानना चाहते हैं। इसका सर्वोत्कृष्ट उपाय है पाठ को स्पष्ट रूप से समझना, उसे बारम्बार दुहराना और उनका लिखकर अभ्यास करना। क्रमश: मैं तुम्हें कुछ और भी बातें बताऊँगा।

(अगले अंक में जारी)
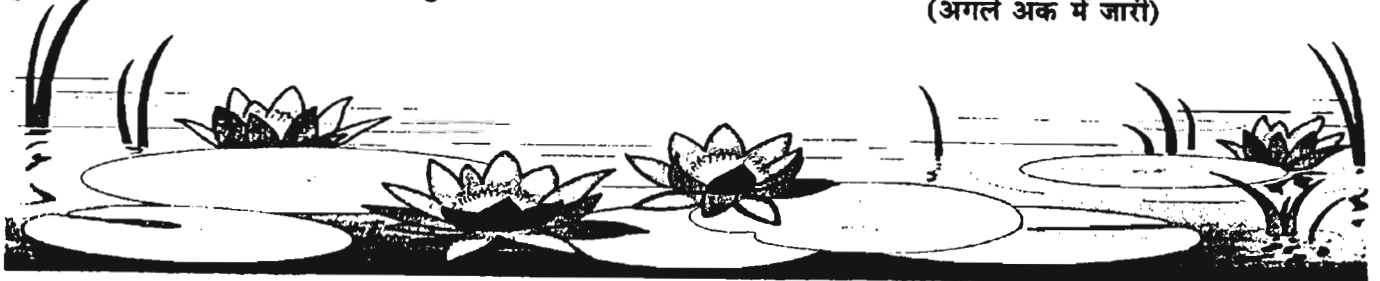
साधना में विवेक का स्थान

स्वामी भजनानन्द

(विवेक, वैराग्य तथा ईश्वरप्राप्ति के लिए व्याकुलता – ये किसी भी प्रकार की साधना में आधारशिला का कार्य करती हैं। वेदान्त में तो इन्हें साधन-चतुष्टय के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपसचिव स्वामी भजनानन्द जी महाराज ने इन महत्त्वपूर्ण विषयों पर तीन लेख लिखे थे, जो संघ के आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' में क्रमशः उसके अगस्त, सितम्बर तथा अक्तूबर १९७९ के अंकों में सम्पादकीय प्रबन्धों के रूप में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों की सर्वांगीणता, गहनता तथा उपयोगिता को देखते हुए, उनका अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में भी क्रमशः मुद्रित किया जा रहा है। – सं.)

विवेक का महत्व

श्रीमत् शंकराचार्य अपने सुप्रसिद्ध गीता-भाष्य में लिखते हैं, "मनुष्य तभी तक ही मनुष्य है, जब तक उसकी बुद्धि उचित व अनुचित के भेद को समझने की क्षमता रखती है; जब उसकी यह क्षमता चली जाती है, तब वह मनुष्य नहीं रह जाता।"[1] इस तीखी टिप्पणी का तात्पर्य यह है कि विवेक कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका उपयोग यदा-कदा कर लिया जाय। जीवन में हमें प्रत्येक क्षण चुनाव करना पड़ता है कि हम अच्छे बनें या बुरे, सुखी हों या दुखी, भगवान का स्मरण करें या उन्हें भूल जायँ। एक भी गलत निर्णय, एक भी असत्य धारणा, एक भी लापरवाही से भरा कदम कभी कभी मनुष्य के जीवन की प्रगति या शान्ति को बरबाद करने के लिये यथेष्ट सिद्ध होता है। यदि बड़ी दुर्घटनाओं की बात छोड़ दें, तथापि कोई भी सर्वदा सुखी नहीं रह पाता। इसका कारण यह है कि या तो लोग गलत निर्णय ले बैठते हैं या निर्णय ही नहीं ले पाते और स्वयं को निरन्तर दुविधा में फँसा हुआ पाते हैं।

आध्यात्मिक जीवन के सन्दर्भ में हम देखते हैं कि ज्ञान, भक्ति, ध्यान और कर्म – प्रत्येक योग के साथ विवेक एक अनिवार्य अंग के रूप में जुड़ा हुआ है। आध्यात्मिक जीवन अज्ञात की ओर बढ़ाया जानेवाला एक साहसिक कदम है। साधक जब तक सच्चा आध्यात्मिक प्रकाश पा नहीं लेता, तब तक उसे विवेकरूपी दीप के आलोक में अपना रास्ता ढूँढ़ना पड़ता है। भगवान बुद्ध की अपने शिष्यों को अंतिम शिक्षा थी – **आत्मदीपो भव** – अपना दीप स्वयं बनो।

कुछ वर्षों पूर्व ज्ञानयोग की साधना में रुझान रखनेवाला एक युवक ने हमारे एक आश्रम में प्रवेश लिया। शीघ्र ही उसे बोध होने लगा कि उसके जिम्मे काम काफी है और साधना के लिए ज्यादा समय नहीं बचता। अतः उसने आश्रम के प्रमुख सन्यासी से इस विषय में शिकायत की, "महाराज, मुझे आत्मविश्लेषण के लिये प्रतिदिन छह घण्टों का समय चाहिए।" सन्यासी बोले, "केवल छह घण्टे ही क्यों? तुम्हें तो पूरे चौबीस घण्टे ही आत्मविश्लेषण का अभ्यास करना चाहिए।" एक साधक को प्रतिक्षण ही सतर्क तथा विवेकवान रहना पड़ता है। वैसे यह तूफान में दीप को प्रज्ज्वलित रखने के समान कठिन है। सांसारिक कामनाओं की वायु सतत प्रवाहित हो रही है और जितनी भी बार ज्ञानरूपी दीप बुझे, हमें उसे पुनः प्रज्ज्वलित करना पड़ता है। ऐसा न करने पर हमें अन्धकार में ही रहना होगा। श्रीरामकृष्णदेव के एक अपढ़ शिष्य – लाटू महाराज कहा करते थे कि विवेकदीप को सदैव प्रज्ज्वलित रखना ही सबसे बड़ी तपस्या है।

विवेक का उल्टा है प्रमाद या लापरवाही, जिसे गीता तमोगुण के लक्षणों में से एक बताती है। श्री शकराचार्य अपने 'विवेक-चूडामणि' ग्रन्थ में लापरवाही को साक्षात् मृत्यु ही बताते हैं। वे चेतावनी देते हुए कहते हैं – "यदि मन आदर्श से जरा भी च्युत और बहिर्मुखी होता है, तो वह लापरवाही के कारण सीढ़ी पर गिरे हुए गेंद की भाँति एक से दूसरे सोपान पर उछलता हुआ नीचे गिर जाता है।"[2] कठोपनिषद् में आध्यात्मिक जीवन को छुरे की धार पर चलने के समान कठिन बताया गया है। हिन्दू पुराणों तथा इतिहासों में ऐसे अनेक तपस्वियों की कथाएँ हैं, जो असावधानी या विवेक-हीनता के कारण अपने उच्च आदर्शों से पतित हो गये थे।

सच्चा विवेक क्या है

अतः यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तव में विवेक है क्या? हर प्रकार के तर्क या चिन्तन वास्तविक विवेक नहीं है। सशय, ऊहापोह या ढुलमुल विचारधारा भी अक्सर विवेक के सदृश प्रतिभात होते हैं। "होना या न होना – यही एक समस्या है" – हेमलेट की यह प्रसिद्ध स्वगतोक्ति इसका एक उदाहरण है। सच्चा विवेक वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मन सही मूल्यांकन करके समुचित निष्कर्ष पर पहुँचता है। युद्धक्षेत्र में अर्जुन ने इसी क्षमता को अस्थायी तौर पर खो दिया था और श्रीकृष्ण का कार्य उनमें उस क्षमता को पुनः जगा देना था। अर्जुन कायर नहीं, वरन् एक महान् योद्धा थे, परन्तु सभी महान् लोगों के समान वे समय के अनुसार तत्काल निर्णय नहीं ले सके। यह महत्त्वपूर्ण कदम उठाने के पूर्व वे मार्ग के विषय में पक्की जानकारी चाहते थे। महापुरुष लोग विवेक द्वारा भलीभाँति आलोकित मार्ग पर ही चला करते हैं। उनमें

१. तावत् एव हि पुरुषो यावद् अन्त.करणं तदीयं कार्याकार्य-विषयविवेकयोग्यं, तदयोग्यत्वे नष्ट एव पुरुषो भवति। (गीताभाष्य, २/६३)

२. लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद् बहिर्मुखं संनिपतेत्ततस्ततः।
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकंदुकः सोपानपंक्तौ पतितो यथा तथा॥ वि. चू., ३२६

सदा ही बाहुबल की अपेक्षा विवेक-बल अधिक होता है।

तीन चीजें विवेक को सामान्य विचारों या तर्क से अलग करती हैं। इनमें पहली है – श्रद्धा या सद्गुणों की महानता एव आत्मा की प्रधानता पर विश्वास। विवेक सदैव निम्नतर से उच्चतर आदर्श, दुर्गुण से सद्गुण और जड से चेतन की ओर होनेवाली गति है। यह गति तभी सम्भव है, जब साधक की उच्चतर आदर्श पर अटल श्रद्धा हो। जिसकी सद्गुणों पर श्रद्धा नहीं है, वह बुराई और अच्छाई के बीच विवेक नहीं कर सकता। उसे तो बुराई ही तर्कसगत कार्य प्रतीत होता है।

द्वितीयतः विवेक तभी सम्भव है, जब इसके दोनों ही फल ज्ञात हो। विवेक कोई हवाई अनुमान नहीं, बल्कि अनुभूति के दो ज्ञात ध्रुवों के बीच होनेवाली गति है। आपने अँधेरे में जो देखा, वह सर्प नहीं वरन् रस्सी थी, यह जानने के लिये रस्सी को देखना होगा। यहाँ पर शास्त्र तथा गुरु का महत्त्व आता है। विवेक को सदैव ही, या तो प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा इन दोनों माध्यमों के द्वारा प्राप्त सच्चे ज्ञान पर आधारित होना चाहिये।

तृतीयतः विवेक विचारों की गति मात्र नहीं है। यह सही चयन निर्धारित करने और सही लक्ष्य व साधन का चुनाव करने की प्रक्रिया है। यह निश्चयात्मकता बुद्धि का कार्य है, जो हिन्दू मनोविज्ञान के अनुसार अन्तर्दृष्टि एव इच्छा – दोनों का ही केन्द्र है। विवेक सर्वदा ही इन दोनों शक्तियों को सक्रिय करता है। सामान्य चिन्तन में बुद्धि शायद ही कभी सक्रिय होती है। यह तभी अग्रसर होती है, जब जीव किसी दोराहे पर खड़ा होता है और कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय लेना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार सच्चा विवेक बुद्धि का सतत प्रयोग है।

विवेक की शक्तिरूप बुद्धि को गीता तीन प्रकार की बताती है – सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। जो प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, कार्य तथा अकार्य, भय तथा अभय और बन्धन तथा मोक्ष को समझती है, वह सात्त्विक बुद्धि है। राजसिक बुद्धि भले-बुरे और कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्धारण नहीं कर पाती। तामसिक बुद्धि अन्धकार से आच्छन्न होती है और बुरे को अच्छा समझकर हर विषय में विकृत दृष्टिकोण रखती है।[३] स्पष्ट है कि केवल सात्त्विक बुद्धि ही विवेक का ठीक ठीक उपयोग कर सकती है।

मन के शुद्ध होने पर ही बुद्धि सात्त्विक होती है। अपवित्रता, अहकार तथा अज्ञान इसे राजसिक एव तामसिक बना देते हैं। इस सात्त्विक बुद्धि का विकास करना ब्रह्मचर्य-पालन का मुख्य उद्देश्य है। सयमी व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध तथा ओजस्वी रहती है और वह अनेक आध्यात्मिक तत्त्वों को समझ लेता है। असयमी व्यक्ति की बुद्धि धुँधली होती है और वह उच्चतर प्रकार के विवेक का अभ्यास करने में असमर्थ रहता है। सात्त्विक बुद्धि को 'धी' भी कहते हैं। यह धी अधिकाश लोगों में सामान्यतः प्रसुप्त अवस्था में रहती है। वेदों का सुप्रसिद्ध गायत्री मत्र इसी 'धी' के जागरण हेतु एक सशक्त प्रार्थना है।

विवेक जीवन के विभिन्न स्तरों पर क्रियाशील होता है। चेतना के विभिन्न स्तरों तथा उनसे जुड़े विषयों के आधार पर इसे चार प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है, जिन पर आगे सक्षेप में चर्चा की गयी है।

कार्य-अकार्य विवेक

यह कर्तव्य और अकर्तव्य के बीच का विवेक है। हमारी दैनन्दिन गतिविधियों के दौरान हमारे समक्ष असख्य मार्ग खुलते हैं और हमें यह निर्णय लेना पड़ता है कि हम कौन-सा मार्ग अपनाएँ। हमारी सफलता तथा सुख हमारे सही चुनाव पर निर्भर करते हैं। वैसे यह आसान कार्य नहीं है। जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय लेते समय केवल common sense (सहज बुद्धि) काम नहीं आती। तथाकथित common sense (सहज बुद्धि) प्रायः हमारी अपनी कामनाओं तथा सस्कारों से प्रभावित होती है और जीवन जैसा गम्भीर विषय इसी के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। मनुष्य को कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में सावधानीपूर्वक अपने विवेक का उपयोग करना चाहिये। उचित कर्तव्य के निर्धारण में दो मार्गदर्शी सिद्धान्त बड़े उपयोगी हैं।

इनमें से पहला है **सुख-दुख विवेक**। यह एक सरल कार्य प्रतीत होता है, क्योंकि कष्ट दूर करना एवं सुख प्राप्त करना सभी जीवों की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। परन्तु कठिनाई तो तब उत्पन्न होती है, जब हम पाते हैं कि जिसे हम सुख समझते हैं, वह प्रायः दुख की ओर ही ले जाता है। अतः हमें यह समझ लेना चाहिए कि वास्तविक सुख क्या है।

कठोपनिषद में नचिकेता की कहानी है, जिसे मृत्युदेवता यम ने विभिन्न दैवी सुखों से प्रलोभित किया था। बालक ने उन सबको नश्वर तथा इन्द्रियों की शक्ति को क्षीण करनेवाला कहकर त्याग दिया। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए उपनिषद् में कहा गया है[४] – "श्रेयस् (हितकर) और प्रेयस् (सुखकर) – दोनों स्वयं को मनुष्य के सामने प्रस्तुत करते हैं। बुद्धिमान दोनों की जाँच करके अन्तर समझते हैं और हितकर का वरण

३. श्रीमद्भगवद्गीता, १८/३०-३२

४. कठोपनिषद्, १/२/२

करते हैं। मूर्ख लोग विषय-वासनाओं द्वारा परिचालित होने के कारण हितकर की तुलना में सुखकर को ही पसन्द करते हैं।'' तो फिर जैसा कि प्राचीन यूनान के स्टोइक लोगों की मान्यता थी, क्या श्रेयस् में जरा भी सुख नहीं है?

सच तो यह है कि सुख के कई प्रकार है, जिनमें *विषय-सुख* या इन्द्रिय सुख सबसे निम्न स्तर का है। गीता में इसे राजसिक सुख कहा है। (गीता में इससे भी निकृष्ट 'तामसिक सुख' का उल्लेख किया गया है, जो निद्रा व प्रमाद से उत्पन्न होता है।)[५] इसमे भी उत्कृष्ट '*सम-सुखम्*' कहलाता है, जो आत्मसयम से उत्पन्न होता है। आत्मा की अनुभूति से होने वाला '*आत्मसुखम्*' इससे भी उत्कृष्ट है। गीता में इन दोनों को सात्त्विक सुख कहा गया है। सर्वोच्च प्रकार का अनन्त एव शाश्वत सुख '*ब्रह्मानन्द*' के रूप में जाना जाता है।

अतः हमारे समक्ष सुखों के विभिन्न प्रकार हैं। 'श्रेयस्' या अच्छाई सर्वोच्च प्रकार के सुख से जुड़ी हुई है। उचित प्रकार के सुख का चुनाव करने में मुख्य कठिनाई यह है कि वह तत्क्षण प्रत्यक्ष या उपलब्ध नहीं होता। गीता में कहा गया है कि राजसिक सुख प्रारम्भ में अमृत जैसा लगता है, परन्तु परिणाम में विषतुल्य सिद्ध होता है। दूसरी ओर सात्त्विक सुख प्रारम्भ में विषतुल्य लगता है, पर अन्त में अमृत में परिणत हो जाता है। इसके अलावा यह मन व बुद्धि की पवित्रता का फल है और सुदीर्घ प्रयासों के बाद ही इसमें रुचि उत्पन्न होती है।[६] इन्द्रियाँ इतनी बलवान होती हैं कि वे मन को तात्कालिक सुख की ओर खींच लेती हैं। केवल ईश्वर-कृपा तथा सत्सग से ही हमें उच्चतर प्रकार के सुखों के बारे में जानकारी मिलती है। हमें उच्चतर सुखों में अभिरुचि उत्पन्न करनी होगी और उन्हें अपनी साधना का लक्ष्य बनाना होगा। केवल तभी हम सुख और दुख के बीच ठीक ठीक भेद कर सकेंगे। क्योंकि जो व्यक्ति उच्च प्रकार के सुख प्राप्त करना चाहता है, उसके लिये निम्नतर सुख भी केवल दुखदायी ही होते हैं। साधकों के लिए अवश्य अभ्यास करने योग्य यह प्रथम प्रकार का विवेक है।

धर्म-अधर्म विवेक अर्थात् उचित और अनुचित के बीच विवेक – दूसरा मार्गदर्शक सिद्धान्त है। यही हिन्दुओं के दो महाकाव्यों – महाभारत और रामायण का मूल विषय-वस्तु है। इन महाकाव्यों के पात्रों के जीवन तथा कार्यों से हमें शिक्षा मिलती है कि इस प्रकार का विवेक वैसा आसान नहीं है, जैसा कि लोग प्रायः सोचते हैं। वस्तुतः महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास इस महान् ग्रन्थ के विषादपूर्ण अन्त में खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं, ''मैं हाथ उठाये चिल्लाकर कहता हूँ कि धर्म से ही जीवन में सुख-समृद्धि आती है, अतः क्यों न पहले इसी (धर्म) का पालन किया जाय? परन्तु खेद है कि कोई मेरी बात नहीं सुनता।''[७] मानव-मन का यह सहज स्वभाव है कि वह सुख-सुविधा का मार्ग अपना कर दुखों तथा जिम्मेदारियों को टालना चाहता है। एक प्रसिद्ध सस्कृत सुभाषित में कहा गया है – ''लोग पुण्यों का फल तो चाहते हैं, परन्तु पुण्य करना नहीं चाहते; और लोग पाप के फल नहीं चाहते, परन्तु यत्नपूर्वक पाप-कर्मों में लिप्त रहते हैं।''[८]

अतः यह जानना परम आवश्यक है कि 'धर्म' (सत्कर्म या कर्तव्य) क्या है? इसकी ठीक परिभाषा कर पाना बड़ा कठिन है; तथापि सुकरात, मूसा और मनु के समय से ही ऋषि तथा विचारक इसके वास्तविक स्वरूप के बारे में चर्चा करते रहे हैं। तथापि यदि धर्म एक सतत प्रवाहमान व परिवर्तनशील धारणा होती और समाज यदि धर्म पर आधारित न होता, तो उसका अस्तित्व ही असम्भव हो जाता। अतः सभी महान् धर्मों ने अपने अनुयायियों के लिये अच्छे या बुरे कार्य के निर्धारण हेतु आचरण के कुछ नियम निर्धारित किये हैं। ब्रैडले ने जिन्हें 'लोकाचार' कहा है, उन नियमों के अनुसार रहना ही सामान्यतः धर्म या कर्तव्य माना जाता है।

यदि मनुष्य के नैतिक जीवन को केवल धार्मिक वितण्डा या कुतर्क तक ही सीमित नहीं रह जाना है, तो इसे विभिन्न धर्मों तथा विभिन्न कालों में बदलते रहनेवाले बाह्य आचार के नियमों की जगह सत्य, अहिंसा, पवित्रता, दया आदि नित्य एव सार्वभौमिक सदाचार के ऐसे नियमों पर आधारित होना चाहिए, जिन पर ससार की नैतिक व्यवस्था टिकी हुई है। धर्म-अधर्म का विवेक इन मूलभूत अच्छाइयों पर आधारित होना चाहिये। नैतिक आचरण का क्या कोई सार्वभौमिक मापदण्ड हो सकता है? इस विषय में पूर्व तथा पश्चिम के नैतिक दार्शनिकों के मतों में भिन्नता है। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार निःस्वार्थता ही नैतिकता की कसौटी है, वे कहते है, ''नैतिकता की यही एकमात्र परिभाषा हो सकती है कि जो स्वार्थपर है, वह 'अनैतिक' है और जो निःस्वार्थपर है, वह 'नैतिक' है।''[९] विवेक का ऐसे ढंग से अभ्यास किया जाना चाहिये, जिससे कि यह हमें अधिकाधिक निःस्वार्थी बनाये, क्योंकि ऐसी सुदृढ़ नैतिकता की नींव पर ही स्थिर आध्यात्मिक जीवन का निर्माण किया जा सकता है।

५. श्रीमद्-भगवद्-गीता, १८.३८, ३९ ६. वही, १८.३६,३७

७. ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥ महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, ५.६२

८. पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापस्य फलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

९. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ८३

सुख-दुख तथा धर्म-अधर्म के बीच विवेक – ये दो तत्त्व ही हमें कार्य-अकार्य विवेक के अभ्यास में लगा कर उचित कर्तव्य का निर्धारण करने में हमारा मार्गदर्शन करेंगे।

नित्य-अनित्य वस्तु विवेक

दूसरे प्रकार का विवेक शाश्वत और नश्वर के बीच है। जब हम अनित्यता या परिवर्तन की बात करते हैं, तो यह व्यक्तिपरक एव वस्तुपरक – हमारे अनुभव के इन दो छोरों के ही सन्दर्भ में होता है।

एक विचारशील व्यक्ति को बाह्य जगत् में होनेवाले सतत परिवर्तन से बढ़कर और कुछ भी नहीं झकझोरता। ऋतुएँ आती हैं और जाती हैं; पौधे बढ़ते हैं, फूलते हैं और सूख जाते हैं; बादल आकाश में उड़ते हुए अपने अपने अज्ञात लक्ष्य की ओर चले जाते हैं; नदियाँ पहाड़ों को काटती हुई समुद्र की ओर भागती हैं और समुद्र स्वय भी एक जैसा न रहकर निरन्तर उछलते-पड़ते हुए करोड़ों तरंगों में बिखर जाता है, जो अपनी अनन्त मौज में तट पर निरन्तर आघात करती रहती हैं। इन सतत परिवर्तनों के बीच, हर तरफ से अज्ञात का सामना करता हुआ मनुष्य एकाकी खड़ा है।

भौतिक जगत् में हो रहे इन सारे परिवर्तनों के अनुभव के साथ ही मनुष्य में अपने अन्दर तथा आन्तरिक अनुभूतियों के जगत् में हो रहे परिवर्तन का बोध होता है। चिरकाल से ही मानवता प्रलय तथा विनाश की काली छाया से भयभीत रही है। बचपन से यौवन और फिर वार्धक्य – जीवन श्मशान की ओर एक सतत यात्रा-सी प्रतीत होती है। सभी भोग्य वस्तुएँ नश्वर प्रतीत होती हैं, तथापि मनुष्य की कामनाओं का कहीं अन्त नहीं दिखाई देता। शायद ही कोई ऐसा मनुष्य होगा, जिसका जीवन सुखद अनुभवों की एक अटूट शृखला रही हो। असन्तोष, निराशा, दुख तथा भय हमारे मन के अँधेरे कोनों से एक अन्तहीन जुलूस की भाँति निकलकर हमारे मन की शान्ति को आतंकित करते हैं।

विषयों तथा उनके भोगों की अनित्यता – इन दोनों ने जैसा बुद्ध को प्रभावित किया, वैसा सबको नहीं करतीं। बहुत-से लोगों में यह चेतना एक तरह की अस्पष्ट आकुलता, गृहविरह या रिक्तता एव जड़हीनता की अनुभूति के रूप में आती है। युवकों, विशेषकर पश्चिम के युवकों के बीच अब यह एक आम बात हो गयी है। आजकल हमें जिस 'तात्पर्य की खोज' तथा 'पहचान का सकट' की बातें खूब सुनने को मिलती हैं, वे नित्यता की आन्तरिक खोज के लक्षण मात्र हैं। तात्पर्य यह कि इन लोगों के मन के अचेतन स्तरों में *नित्य-अनित्य वस्तु विवेक* की एक तरह की अनगढ़ प्रक्रिया चल रहीं है, यद्यपि वे इसके प्रति सजग नहीं हैं। अज्ञानता एव समुचित मार्गदर्शन के अभाव में, यह आरम्भिक तथा उपेक्षित विवेक शायद ही कभी चेतना के स्तर पर लाकर आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में रूपान्तरित की जाती है। इसके फलस्वरूप यह केवल निराशा और विषाद ही पैदा करता है और कुछ चरम मामलों में युवकों को हिप्पीवाद, नशेबाजी तथा अन्य स्वनाशकारी आदतों की ओर ढकेलता है।

परन्तु कुछ भाग्यशाली लोगों के लिये यह अचेतन विवेक आध्यात्मिक जीवन के द्वार खोल सकता है। यह उन्हें सन्त-महात्माओं के सान्निध्य में पहुँचा सकता है, जिनसे वे यह सीख सकते हैं कि किस प्रकार विवेक की इस अचेतन क्रिया को माया के पर्दे को विच्छिन्न करने के लिए एक सशक्त आध्यात्मिक युक्ति में रूपान्तरित कर लिया जाय। वस्तुतः नित्य और अनित्य के बीच विवेक सच्चे आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ को सूचित करता है, क्योंकि यह साधक को अस्तित्व के सघर्ष से हटाकर उच्चतर चेतना हेतु संघर्ष में प्रेरित करता है। इस विवेक का निरन्तर अभ्यास करके और इसे एक आदत बनाकर पतन के खतरे से बचा जा सकता है।

सभी सच्चे साधक जानते हैं कि विषय-भोगों की ओर मन ती तीव्र दौड़ को रोकने का सर्वाधिक प्रभावी उपाय इस प्रकार के विवेक का अभ्यास ही है। यह कैसे कार्य करता है? मन को अनित्यता तथा विनाश के बारे में बताने पर मन किस कारण ठहर जाता है? प्रत्येक जीव में अमरत्व तथा अनन्त आनन्द की मूलभूत पिपासा होती है। क्षणिक आनन्द से मन सदा के लिए सन्तुष्ट नहीं रह सकता। जब वह जान लेता है कि इन्द्रिय-सुख अनित्य हैं और पृथ्वी का जीवन भी दीर्घकाल नहीं रहता, तब वह अपने भीतर नित्य एव अनन्त सुख के स्रोत को ढूँढ़ने लगता है। यह स्वतः ही मन को विषय-भोगों से खींच लेता है और उसकी चंचलता को कम कर देता है।

भक्त को यह विवेक ईश्वरप्राप्ति के लिए व्याकुलता बढ़ाने में बड़ा सहायक होता है। सभी प्रकार के मानवीय प्रेमों को सीमित तथा अस्थिर समझकर वह केवल ईश्वर से ही प्रेम करता है; सभी प्रकार के सुखों को क्षणभगुर समझकर वह केवल ईश्वर के लिये ही जीता है; सभी प्रकार के सांसारिक आश्रयों को अनित्य तथा अविश्वसनीय समझकर वह केवल ईश्वर पर ही आश्रित रहता है। श्री शकराचार्य की यह प्रसिद्ध स्तुति बड़े ही मर्मस्पर्शी ढग से एक सच्चे भगवद्भक्त की मनःस्थिति को प्रकट करती है – "हे प्रभो, दिन बीतने के साथ साथ आयु घटती जा रही है और यौवन का क्षय होता जा रहा है। बीते हुए दिन फिर लौटकर कभी नहीं आते, क्योंकि

काल सारे जगत् का भक्षक है। समृद्धि जल की सतह पर उठने वाली हिलोरों के समान अस्थिर है और जीवन भी प्रकाश की चमक की भाँति ही क्षणिक है। अतः हे सबके शरणदाता प्रभो, मुझ शरण में आये की तुम तत्काल रक्षा करो।''[१०]

साधकों के लिये नित्य और अनित्य के बीच विवेक का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपयोग भी है – यह उन्हें समय की क़ीमत के विषय में सचेत करता है। महाभारत में अट्ठारह दिनों के भीषण नरसहार तथा विनाश के पश्चात् कवि पूछते हैं – ''बुलबुले के समान इस शरीर पर जीवात्मा (कभी भी उड़ने को तैयार) एक पक्षी की भाँति बैठा हुआ है और प्रियजनों का सग अनित्य है, यह जानकर हे पुत्र! तुम भला कैसे सो सकते हो?''[११] जिस किसी ने भी जीवन की नश्वरता को समझ लिया है, वह अज्ञान-निद्रा में रहकर जीवन के अचेतन प्रवाह में बहता नहीं रह सकता। वह समय के मूल्य के विषय में सचेत हो जाता है और बेकार गये समय की भरपाई करने हेतु साधना की तीव्रता को बढ़ा देता है। श्रीरामकृष्ण देव की तरुणाई के दिनों में, उनमें यह चेतना इतनी प्रबल थी कि जब वे दिवसावसान के बाद सध्या को मन्दिर के घण्टों की ध्वनि सुनते, तो आँसू बहाते हुए जोर से रुदन करते हुए कहते, ''माँ, तेरे दर्शन के बिना एक दिन और व्यर्थ ही बीत गया।''

इस प्रकार *नित्य-अनित्य वस्तु विवेक* साधक के जीवन में चार महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करता है – यह उसके मन को विषय भोगों से विरत करता है, उसकी चचलता को घटाता है, उसे ईश्वर की ओर उन्मुख करता है और उसे समय के मूल्य का स्मरण कराता है।

एक अन्य महत्वपूर्ण बात का यहाँ उल्लेख करना जरूरी है। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि विवेक हमें ससार तथा इसके भोगों की क्षणभगुरता का ज्ञान मात्र ही कराता है, यह परम तत्त्व का बोध नहीं कराता। यह हमें अनित्य से दूर तो ले जा सकता है, परन्तु यह हमें सीधे नित्य या अक्षय ब्रह्म तक नहीं ले जा सकता। इसके लिए तो हमें तीसरे प्रकार के विवेक का अभ्यास करना पड़ता है, जिस पर आगे चर्चा होगी। वैसे ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि *नित्य-अनित्य-विवेक* का अभ्यास केवल उसी व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिये, जिसने इसके प्रथम प्रकार – *कार्य-अकार्य-विवेक* का अभ्यास कर लिया हो और इसके द्वारा मन के सन्तुलन तथा परिपक्वता की उपलब्धि कर ली हो। नहीं तो यह उसे निराशा तथा आलस्य में फँसाकर पलायन या शून्यवाद के दर्शन की सृष्टि करेगा। भारत में मध्य काल के बाद जो सामान्य पतनावस्था तथा सृजनशीलता की कमी दृष्टिगोचर हुई, उसके लिए आंशिक रूप से इस बात की उपेक्षा को दोषी ठहराया जा सकता है।

दृक्-दृश्य विवेक

यह तीसरा प्रकार है जिसका अर्थ है द्रष्टा तथा दृश्य के बीच विवेक करना। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है। नित्य-अनित्य विवेक हमें नित्य या शाश्वत अक्षय परम ब्रह्म के बारे में प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं देता। परन्तु जब इसका भलीभाँति अभ्यास किया जाता है, तो साधक को शीघ्र ही ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि बाह्य तथा मानसिक जगत् की हर वस्तु निरन्तर परिवर्तित हो रही है, मगर उसके भीतर एक स्थान है, जिसमें परिवर्तन नहीं होता। यह उसकी चेतना का केन्द्र – 'अहं'-बोध का स्थान है। मनुष्य के बचपन आदि अवस्थाओं से होकर गुजरते रहने के बावजूद, यह 'अहं' का बोध ही उसके जीवन को एक व्यक्ति के रूप में नैरन्तर्य प्रदान करता है। फिर यह उसके समस्त विचारों का एक सामान्य नाम है और उन सबको निरन्तरता तथा तात्पर्य प्रदान करता है। जैसे एक सिपाही यातायात को नियंत्रित करता है, परन्तु स्वय अपने चारों ओर दौड़ती हुई गाड़ियों से प्रभावित हुए बिना एक स्थान में सुरक्षित रहता है, वैसे ही इस 'अहं'-चेतना का केन्द्र अपने चारों ओर प्रवाहित होते विचारों तथा भावनाओं से अप्रभावित रहता है। यही हमारे भीतर का *दृक्* या द्रष्टा है। सभी बाह्य तथा आन्तरिक विषय दृश्य है। द्रष्टा तथा दृश्य के बीच का विवेक एक महत्वपूर्ण साधना है।

इस विवेक के दो उद्देश्य हैं। प्रथमतः यह आत्मा को बाह्य वस्तुओं तथा विचारों से अलग करने में सहायक होता है। इस प्रकार यह विचारों को नियंत्रित करने की पद्धति के रूप में कार्य करता है और यह पद्धति पहले वर्णित दूसरे प्रकार के विवेक से बेहतर तथा अधिक उन्नत है। द्वितीयतः यह हमें अपने भीतर स्थित, आध्यात्मिक उपलब्धि के द्वार रूप, दिव्य केंद्र को ढूँढ़ने में सहायता करता है। यह उस दिशा की ओर इंगित करता है, जिधर हमारी आत्मा निवास करती है। श्री शकराचार्य ने बताया है – यद्यपि 'अहं' स्वयप्रकाश है, तो भी आत्मा के रूप में इसका वास्तविक उन्नत स्वरूप वैसा नहीं है, अन्यथा जड़वादी तथा बौद्ध इसे नकार नहीं पाते।[१२]

१०. आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनं
प्रत्यायान्ति गता पुनर्न दिवसा कालो जगद्भक्षकः।
लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला विद्युच्चलं जीवितं
तस्मान्मा शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना ॥
– शिवापराध-क्षमापन-स्तोत्रम्, १३

११. फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनवत् स्थिते।
अनित्ये प्रियसवासे कथं स्वपिषि पुत्रक ॥ (शान्तिपर्व, ३२१.७)

१२. शंकराचार्य कृत बृहदारण्यक उपनिषद् की भाष्यभूमिका।

सभी आध्यात्मिक प्रणालियों का तात्कालिक लक्ष्य आत्मा के प्रकाश को – अपने उच्चतर आध्यात्मिक आयाम को प्रकट करना है। *दृक्-दृश्य-विवेक* अपने आप ही हमें अपने में निहित दैवी केन्द्र तक नहीं ले जा सकता, परन्तु यह उसके मार्ग का संकेत अवश्य दे सकता है। इसके अभ्यास से हम जान सकते हैं कि हमारा 'मैं' हमारे विचारों से अलग है, परन्तु यह विवेक 'मैं' के स्वयप्रकाश स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकता। अपने आलोकमय दिव्य केन्द्र को व्यक्त करने के लिए हमें प्रार्थना, ध्यान, निदिध्यासन (आत्म-जिज्ञासा) या अन्य आध्यात्मिक पद्धतियों का अभ्यास करना होगा।

ताओवाद तथा जेन बौद्ध-धर्म के प्रसार से आजकल सम्पूर्ण विश्व में अद्वैत की एक गलत व्याख्या प्रचलित हो रही है। जीवन तथा स्वबोध के बीच फैली एक प्रकार की भ्रान्ति के चलते कुछ वैज्ञानिक तक अणु-परमाणु से लेकर 'आत्मा' तक हर वस्तु को 'एक' मानने लगे हैं और इसके कारण वेदान्त के बारे में एक गलत धारणा तथा व्याख्या प्रचलित हो गयी है। इस *दृक्-दृश्य-विवेक* के अभ्यास का अभाव ही इस भूल का मूल कारण है और यह विवेक ही अद्वैत की सच्ची धारणा का प्रारम्भिक बिन्दु है।

फिर इस विवेक के अभ्यास का एक खतरा भी है और वह यह कि मन की एक साधारण प्रवृत्ति रूप 'अहबोध' को ही कहीं हम जीवन्मुक्त का उच्चतर साक्षिबोध न समझ बैठें। 'choiceless awereness' (चयनरहित सहजबोध) तथा 're-maining a witness' (साक्षीभाव से रहने) की बातें करना आजकल का एक फैशन हो गया है। एक मानसिक प्रवृत्ति के रूप में यह निस्सन्देह एक उत्तम अभ्यास है, परन्तु इसे एक सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति समझ बैठना केवल भ्रान्ति मात्र है। परम तत्त्व के स्वरूप तथा वास्तविक आध्यात्मिक अनुभूति के विषय में अज्ञान ही इस भूल का कारण है। अब हम विवेक के चौथे प्रकार तक पहुँचते हैं।

सद्-असद् वस्तु विवेक

इसका अर्थ है सत्य और मिथ्या के बीच विवेक। आम तौर पर इन शब्दों का जो अर्थ लिया जाता है, वह प्रायः एक अनुमान मात्र ही रहता है; क्योंकि जब तक हमें 'सत्य' की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो जाती, तब तक हम सत्य एव मिथ्या के बीच भला कैसे विवेक कर सकते हैं? श्रीरामकृष्ण देव की दिव्य सहधर्मिणी श्री सारदा देवी से एक बार ईश्वरानुभूति के स्वरूप के विषय में पूछा गया था। उत्तर में उन्होंने कहा, "ईश्वर की अनुभूति कर लेने के बाद मनुष्य क्या बन जाता है? क्या उसके दो सींग निकल आते हैं? नहीं, बल्कि उसमें सत्य और असत्य का विवेक आ जाता है, आध्यात्मिक बोध आ जाता है और वह जीवन-मृत्यु के पार चला जाता है।"[१३] यहाँ पर माँ ईश्वरद्रष्टा को प्राप्त होनेवाले सर्वोच्च प्रकार की विवेकपूर्ण चेतना की बात कह रही हैं।

तो फिर क्यों हम 'सद्-असद्-विवेक' के बारे में इतना सुनते है? यह वाक्याश 'नित्य' तथा 'अनित्य' शब्दों का सामान्य भाषान्तरण है और यह इस धारणा पर आधारित है कि जो अनित्य है वह असत् होगा। जगत् अनित्य होने के कारण असत्य या भ्रान्तिमय होगा। गौड़पादाचार्य कहते हैं – "जिसका प्रारम्भ तथा अन्त में अस्तित्व नहीं है, उसका बीच में भी अस्तित्व नहीं हो सकता।"[१४] यह अद्वैत के बुनियादी सिद्धान्तों में से एक है। वैसे वेदान्त की अन्य शाखाएँ इसे स्वीकार नहीं करतीं। उन लोगों के मतानुसार जगत् निस्सन्देह अनित्य है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि यह केवल एक भ्रम मात्र है। जिस बात पर वेदान्त की सभी शाखाएँ सहमत हैं, वह यह है कि आत्मा स्वप्रकाश है, असृष्ट है, अमर है और यह न केवल शरीर बल्कि मन से भी अलग है। अतः इस चौथे प्रकार के विवेक को आत्म-अनात्म-विवेक कहना अधिक समीचीन होगा। इसका अभ्यास उन्हीं साधकों द्वारा किया जा सकता है, जिन्हें आत्मज्योति के दर्शन हो चुके हैं।

हमने जिन चार प्रकार के विवेकों का उल्लेख किया, वे एक सोपान-क्रम में आते हैं और साधक आध्यात्मिक जीवन में ज्यों ज्यों प्रगति करता है, त्यों त्यों उच्चतर प्रकारों को अपनाता जाता है। एक सच्चा साधक सर्वदा विवेक का अभ्यास करता रहता है। उनके मन का एक भाग उसमें आनेवाले हर विचार तथा भावना का निरन्तर स्थानान्तरण, विश्लेषण, वर्गीकरण तथा मूल्याकन करने में लगा रहता है। कार्य, खेल, वार्तालाप या दैनिक जीवन की अन्य सामान्य गतिविधियों में व्यस्त रहते समय भी यह आन्तरिक गुप्तचर अपने कार्य में लगा ही रहता है। यहाँ तक कि यह निद्रा के दौरान भी निरन्तर क्रियाशील रहता है। विवेक में भलीभाँति प्रशिक्षित एक अनुशासित मन, वस्तुतः एक सरक्षक देवदूत के समान कार्य करता है। वह सभी अवस्थाओं तथा परिस्थितियों में साधक की दिन-रात रक्षा करता रहता है। ❖

---

१३. माँ की बातें, भाग १, सं. १९९७, पृ. ६७, १७१

१४. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (माण्डुक्य कारिका, ४.३१)

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

— ११५ —

तुम्हारा पत्र पाकर आनन्दित हुआ । प्रभु तुम्हें सद्बुद्धि दे रहे हैं और तुम्हारा चित्त क्रमश: निर्मल हो रहा है, यह बात स्पष्ट रूप से जानकर मुझे विशेष प्रसन्नता हुई । प्रभु तुम पर और भी अधिक कृपा करें, यही उनसे मेरी हार्दिक प्रार्थना है ।

यह सत्य है कि सभी वासनाओं का त्याग करना सहज नहीं है, पर मन यदि विचारशील हो जाय, तो वासनाएँ ज्यादा जोर नहीं लगा पातीं । वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्र से कहते हैं –

एकं विवेकं प्रौढं आदाय विहरन्नेव संकटेषु न मुह्यति।।
– अर्थात् एक विवेक-विचार रूपी मित्र को साथ लेकर विचरण करने से महान् विपत्ति भी मोहित नहीं कर सकती ।

विवेक-बुद्धि स्थिर रहने पर मोह का जोर नहीं चलता। यह सब अनित्य है – यह विचार यदि मन में रहे, तो वासना क्या कर सकेगी? साधारण वासनाओं से कोई भय नहीं है । जो वासनाएँ उन्हें भुलवा देती हैं, वे ही महा अनिष्टकारी हैं । ईश्वर को मन में रखकर संसार में रहने पर भी वासनाएँ विपथगामी नहीं कर पातीं । उन्हें पुकारते जाओ, अपनी आन्तरिक इच्छा बताओ, वे सब कुछ ठीक कर देंगे ।

योगवासिष्ठ में त्याग की एक कहानी है । एक ब्रह्मचारी ने अपने आपको त्यागी मानकर सभी बाह्य वस्तुओं का परित्याग कर दिया और वह अत्यन्त साधारण कपड़े, आसन तथा कमण्डलु का उपयोग करता । उसे ज्ञान कराने के लिए, उसके गुरु ने उससे कहा – "तुमने क्या त्याग किया है? कुछ भी तो नहीं छोड़ा ।" ब्रह्मचारी ने सोचा– "मेरे पास कुछ भी नहीं है, सिर्फ पहनने के कपड़े, आसन और कमण्डलु है । गुरुजी का लक्ष्य संभवत: इन्हीं चीजों की ओर है ।" ऐसा सोचकर उस ब्रह्मचारी ने सभी वस्तुओं का त्याग करने का विचार किया और सामने अग्नि प्रज्वलित करके उसमें एक-एक कर सभी चीजें डालकर बोला – "अब मेरा सर्वस्व त्याग हो गया ।" गुरुजी बोले – "क्या त्याग हुआ है तुम्हारा? कपड़ों का? वह तो रूई से निर्मित है । इसी प्रकार आसन कमण्डलु आदि भी विभिन्न वस्तुओं द्वारा निर्मित हैं उन्हें त्यागकर क्या तुम्हारा त्याग करना हुआ?" तब ब्रह्मचारी ने सोचा – "और क्या है मेरा? हाँ, मेरे पास शरीर है । ठीक है, तो फिर इस शरीर की ही अग्नि में आहुति दे दूँगा ।" ऐसा निश्चय कर जब ब्रह्मचारी सामने प्रज्वलित अग्नि में अपना शरीर अर्पित करने को प्रस्तुत हुए तो गुरुजी ने कहा – "ठहरो, क्या कर रहे हो? जरा सोचो तो सही! इस शरीर में तुम्हारा क्या है? यह तो पिता-माता के शुक्र-शोणित से उत्पन्न हुआ है । और आहार के द्वारा वर्धित तथा पुष्ट हुआ है । इसमें तुम्हारा क्या है?" तब ब्रह्मचारी की आँखें खुलीं । गुरु की कृपा से तब उसे ज्ञान हुआ कि अभिमान ही सभी अनिष्टों का मूल है । इस अभिमान का त्याग करने से ही ठीक-ठीक त्याग होता है, अन्यथा बाह्य वस्तुओं का, यहाँ तक कि शरीर तक का त्याग त्याग नहीं है ।

अत: ग्रहण और त्याग दोनों ही छलावा है । प्रभु की शरणागति – यही सार बात है । उनके चरणों में अनन्य भक्ति, उनके भक्तों से प्रीति तथा उनके नाम में रुचि के लिये प्रार्थना ही सच्ची प्रार्थना है ।

— ११६ —

तुम्हारे पत्र से समाचार मिले । मायावती (हिमालय) में तुम्हारा शरीर तथा मन स्वस्थ है और तुम्हारा साधन-भजन तथा शास्त्रचर्चा अच्छी तरह चल रही है, यह जानकर मैं अत्यन्त आनन्दित हुआ । इच्छा का प्राबल्य तथा आन्तरिकता होने पर सारी सुविधाएँ जुट जाती हैं । प्रभु अन्तर्यामी हैं, वे हृदय देखकर सारी व्यवस्था कर देते हैं । अन्तर से उनसे जैसी प्रार्थना करोगे, देखोगे कि वे देर-सबेर वह आकांक्षा अवश्य पूरी करेंगे । ऐसे सुन्दर स्थान में भगवत्-चिन्तन में मनोनियोग तथा अन्दर-बाहर सतत उन्हीं का अनुध्यान कर जीवन धन्य कर लो – इससे बढ़कर और क्या प्रार्थना हो सकती है?

तुम्हारे हृदय का आवेग, प्रतिज्ञा तथा विश्वास देखकर मैं बहुत आनन्दित हुआ । मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारे शुभ दिन आ गये हैं । प्रभु से मेरी यही हार्दिक प्रार्थना है कि तुम शीघ्र ही अभीष्ट लाभ कर कृतकृत्य हो जाओ ।

— ११७ —

तुम्हारा पत्र पाकर प्रसन्नता हुई । तुम्हारे घर में भगवान दधिवामन की झूलनयात्रा का उत्सव है, यह जानकर भी आनन्द हुआ । **मम पर्वानुमोदनम्**[१] – यह भी भक्ति का एक अंग है । यहाँ पर भी श्री जगन्नाथजी का झूलन-उत्सव हो रहा है । सभी लोग आनन्दमग्न हैं । पुरी में अनेक मठ हैं और सभी मठों में आनन्दोत्सव होता है । यह बड़ी अच्छी बात है ।

उनके आनन्द में ही अपना आनन्द है – सेवा के इस भाव को न भूलने में ही भलाई है । पर प्राय: इसका उल्टा हुआ

१. मज्जन्म-कर्म-कथनं मम पर्वानुमोदनम् ।
गीत-ताण्डव-वादित्र-गोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सव: ।।
– मेरे दिव्य जन्मो व कर्मो की चर्चा करे, मेरे पर्वो पर आनन्द मनावे और संगीत, नृत्य, वाद्य तथा गोष्ठी द्वारा अपने घर मे मेरा उत्सव करे ।

करता है, प्रभु की सेवा न होकर आत्मसेवा ही होती है । यही सेवाधर्म का एक अत्यन्त अनर्थकारी परिणाम है । खूब सावधान, खूब जागरूक, प्रार्थनापरायण तथा वैराग्यवान होने पर ही इससे रक्षा हो सकती है । अपरिपक्व अवस्था में सभी धर्मों मे फिसलने का भय रहता है । भगवान के प्रति प्रगाढ़ प्रेम रहने पर फिर कोई भय नही रहता, परन्तु वह प्रगाढ़ भाव स्वार्थ-सम्बन्ध रहित हुए बिना नहीं होता । चाहे जिधर से भी होकर जाओ, अहंभाव, स्वार्थ, भोगेच्छा दूर हुए बिना किसी भी धर्म में पूरी सफलता नहीं मिलती ।

प्रभु की कृपा से भक्त को कोई भय नहीं, क्योंकि भाव ठीक-ठीक होने पर वे उसकी रक्षा करते हैं । आन्तरिकता चाहिये, मन और मुख एक करना ही चरम साधना है । एकबारगी वह न कर पाने पर भी क्रमश: उसका अभ्यास कर लेना निश्चय ही सम्भव है । प्रभु स्वयं ही इसमें सहायक होते हैं । उनकी कृपा के अभाव में सभी लोग असहाय हैं ।

तेषा मेवानुकम्पार्थमहामज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।[२]

यही एकमात्र आश्वासन और अवलम्बन है । मेरी शुभकामनाएँ तथा स्नेह स्वीकार करना ।

— ११८ —

पत्र पढ़कर तुम्हें अच्छा लगा, इससे मैं तुम्हारी मन:स्थिति समझ रहा हूँ । इसे प्रभु की विशेष कृपा मानना होगा । इसी प्रकार उनका स्मरण-मनन करते रहो, अनन्य मन के साथ यथाशक्ति उनसे प्रार्थना करो । वे अन्तर्यामी और महादयालु हैं, हृदय की प्रार्थना पूरी किया करते हैं । चंचलता मन का स्वभाव है, वह भगवद्-भजन के द्वारा शान्त हो जाता है, दूसरा कोई भी उपाय नहीं । उनका भजन करते करते, उनकी कृपा से चित्त स्थिर होता है ।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां भावना-तश्चित्तप्रसादनम्[३] – सुखी के प्रति मित्रता, दु:खी के प्रति दया, पुण्यवान से प्रीति और पापी के प्रति उपेक्षा का भाव रखने पर चित्त स्थिर होता है – पातञ्जल योगशास्त्र का यही उपदेश है । सभी के भीतर भगवान हैं, अत: सभी प्रीति के पात्र हैं – इस भाव के द्वारा भी चित्त को शान्तिलाभ होता है ।

— ११९ —

तुम्हारा पत्र यथासमय मिला । प्रारम्भ में विचार के द्वारा ही समझना पड़ता है, फिर दृढ़ और संशयरहित होते ही साक्षात्कार होता है । संशय, असम्भावना, विपरीत-भावना दूर होते ही निश्चयात्मिका बुद्धि तथा वृत्ति स्थिर होती है, इसी को तत्त्व-साक्षात्कार कहते हैं । प्रभु की कृपा से **कालेनात्मनि विन्दति**[४] होता है ।

आज म... का एक पोस्टकार्ड मिला है । उससे कहना कि केवल हाथ-पाँव समेटकर बैठने से ही अभिमानरहित नहीं हुआ जा सकता, कार्य के भीतर से ही निरभिमान होने का मार्ग है । कच्चे तेल को पकाने के लिए उसे आग में रखना पड़ता है । चीनी साफ करने के लिए बहुत-सा मैल काटना पड़ता है । इसी प्रकार मन को शुद्ध करने के लिए उसे कर्म में डालकर निष्काम करना पड़ता है – कछुए के समान केवल हाथ-पैर समेटने से ही नहीं होता । अभिमान होता है, इसीलिए कर्म न करूँगा – यह भाव महा स्वार्थपरता से उत्पन्न होता है । यह महा तमोगुण है, इसे कर्म के द्वारा रजोगुण में परिणत कर क्रमश: सत्त्वयुक्त होने पर ही ठीक तौर से अभिमान जाता है । **यस्यान्तः स्यादहंकारो न करोति करोति सः** – जिसके भीतर अहंकार रहता है, वह कुछ किए बिना भी अहंकाररहित, धीर है, वह सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता ।

तुम सभी मेरी शुभकामनाएँ तथा स्नेहादि स्वीकार करना ।

— १२० —

आपका सुन्दर पत्र पाकर हम लोग आनन्द से पुलकित हो उठे । महाराज के बारे में आपकी धारणा जानकर आपको हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जा सकता । निःसन्देह आप अत्यन्त भाग्यशाली हैं । आपकी शास्त्रचर्चा सफल हुई है । आपका सिद्धान्त पढ़कर मैं मुग्ध हो गया हूँ । रतिबाबू अवश्य ही भाग्यवान हैं और देवतागण भी उन पर निश्चय ही अति प्रसन्न होंगे। प्रभु ने रतिबाबू को अपनी ओर खींचा है । वे संसार-वासना पूर्णरूप से त्यागकर उनके विमल चरणों में मन-प्राण अर्पित कर अमृतत्व के अधिकारी हों और चिरशान्ति प्राप्तकर अपना मानव जीवन सार्थक करें ।

आपका पत्र मैंने महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) को पढ़कर सुनाया था । उन्होंने आपकी इतनी प्रशंसा की कि क्या कहूँ? आप उनका आशीर्वाद स्वीकार कीजिए तथा अपने पुत्र को भी दीजिए । उनका स्वास्थ्य आजकल थोड़ा अच्छा है; मेरा भी बुरा नहीं । आप हम सबकी हार्दिक प्रीति व शुभकामनाएँ स्वीकार कीजिए ।

२. उनके ऊपर कृपा करने के लिए मैं उनकी बुद्धिवृत्ति में स्थित होकर, उज्ज्वल ज्ञानदीप के द्वारा उनके अज्ञानजनित अन्धकार का नाश कर देता हूँ । (गीता १०/११)

३. पातंजलयोगसूत्र, समाधिपाद, ३३

४. समय आने पर आत्मा में ही ज्ञान की प्राप्ति होती है । (गीता ४/३८)